सिद्धयोग

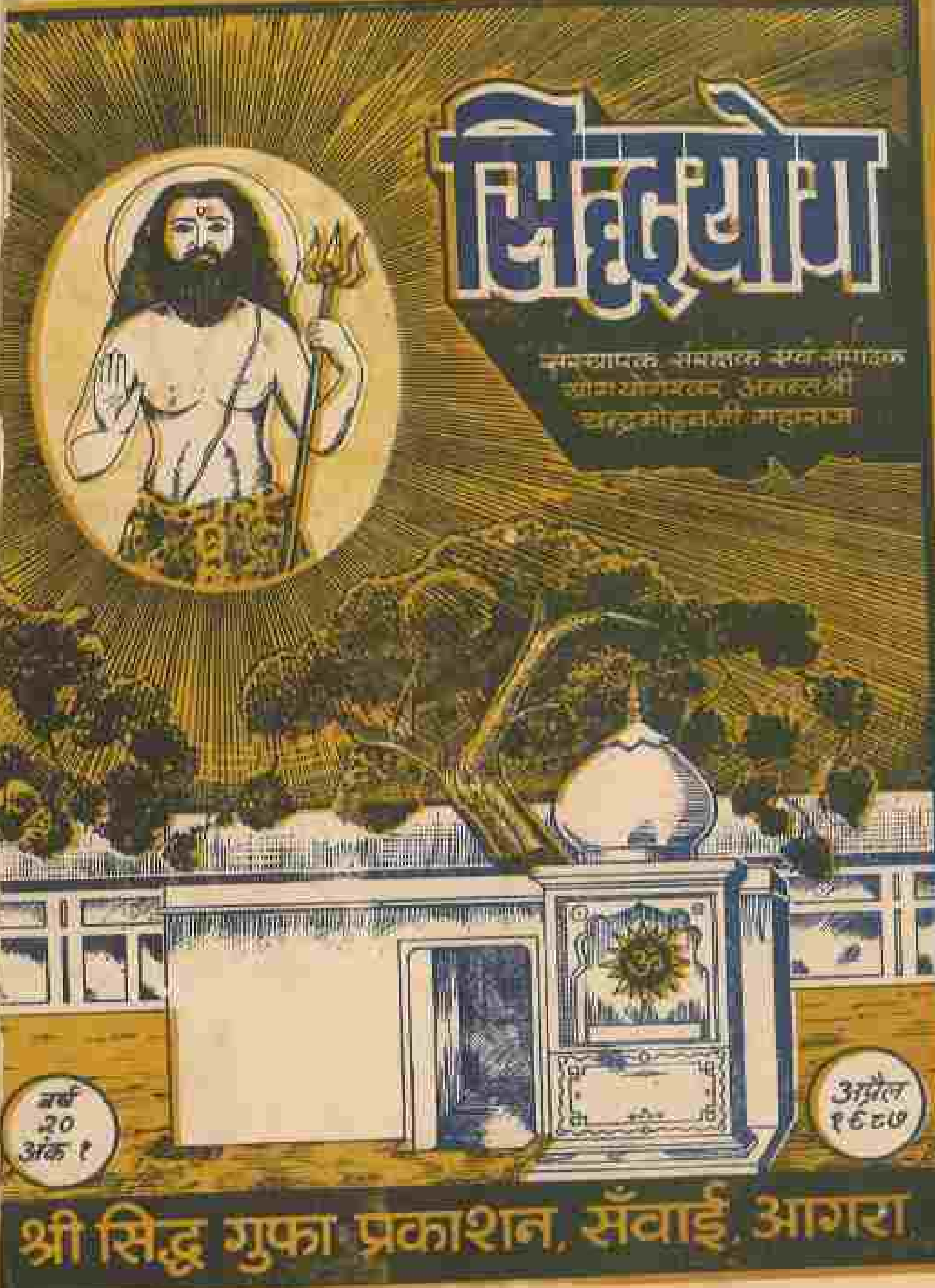

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष २०
अंक १

अप्रैल
१९८५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

अप्रैल
१९६७

* अदीनाः स्याम शरदः शतं (प्रार्थना) १
* विश्व शान्ति और योग सिद्धान्त (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
* चित्त की प्रसन्नता के साधन ६
श्रीमती सरिता भारद्वाज, एम० ए०
* साधो ! सहज समाधि भली १४
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
* तपोधन महामुनि पतंजलि १८
श्री गौतम
* योग की रीति २१
श्री ब्र० ब्रजमोहन वाशिष्ठ
* नाम का अभ्यास करो २८
श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'
* परम एकनिष्ठ भक्त श्री नामदेव ३२
श्री केशव उपाध्याय
* प्रसादे सर्व दुःखानाम् ३६
श्री कृष्णदत्त भट्ट
* भगवान भास्कर और उनकी रश्मियाँ ४१
श्री शङ्करलाल शास्त्री, गौड़
* आरती-विराट् भूमिका में सामाजिक चेतना ४५
डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र
* चित्त निरोध के उपाय ६०
वैद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री
* गोरखपुर में श्री गुरुदेवजी के योग-प्रवचन ६३
श्री डा० विजयसिंह
* पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् ७२
* गुरु-तत्त्व और गुरु-परिवार ७५
ब्रह्मचारी श्री शिवोम्प्रकाश
* निजानुभूति ८१
श्री गुह्येश्वरानन्द शास्त्री
* ऋषि-दर्शन ८४
* योगोत्सवः परंपरा—आश्रम समाचार ९२

वार्षिक मूल्य १० रुपया । इस अङ्क का १ रुपया

योगी परं स्थानमुपैति

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

यौगिक वचनामृत

[श्री गुरुदेव भगवान् के समय-समय पर दिये गये प्रवचनों से संगृहीत ।]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।

उपनिषद् के इस वाक्य का आशय है कि बलहीन मनुष्य आत्म-पद की प्राप्ति नहीं कर सकता । साधकों को यह हमारा सदा परामर्श रहा है कि वे अपने में सदैव शक्ति-संचय का अभ्यास और प्रयत्न करते रहें । शक्तिहीन मनुष्य लोक या परलोक के किसी भी सुख-वैभव को प्राप्त नहीं कर सकता । शक्तिहीन मनुष्यका जीवन तो उन कीट-पतंगे आदि के जीवन जैसा होता है जो जन्म लेकर उसी स्थिति में ही पड़े रहकर मृत्यु को प्राप्त हो जाया करते हैं । योग-साधना के लिए तो शक्ति का अवलम्बन लेना नितान्त जरूरी होता है । यह अवलम्बन ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त और दूसरा नहीं हो सकता, इसलिए साधक के लिए प्रथम आवश्यकता है ब्रह्मचर्य-व्रतके धारण करने की । इस ब्रह्मचर्य व्रतके धारण करनेसे ही उन्हें शक्ति, ओज, तेज आदि की प्राप्ति हो सकती है । इसलिये इस व्रत के पालन में कभी भी किसी को उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । ब्रह्मचर्य के बल से ही देवताओं ने मृत्यु को जीता है ।

× × × ×

धारणा सुयोग्यता मनसः ।

यह सूत्र पातञ्जल योग-दर्शन का है, इसका आशय है कि धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है और मनोबल का विकास होता है । जो साधक दो या तीन मास तक सायं-प्रातः नियमित रूपेण तीन-तीन घण्टे आसनासीन होकर अपने ध्येय विषय की धारणा —मन की वृत्ति निरोध करते हुए करता है, उसे ध्येय की प्राप्ति अवश्य हो जाती है । नियमित रूपेण किया हुआ धारणा का अभ्यास स्वतः ही ध्यान में बदल जाया करता है ।

× × × ×

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण का यह वाक्य योग-साधकोंको सदैव ध्यानमें रखना चाहिए कि जो मनुष्य मनसे विषयों का चिन्तन करने लगता है, वह धीरे-धीरे उनमें अनुरक्त हो जाता है, तथा उसकी वासनिक प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है । वासनाओं की इच्छा उसे काम-क्रोध जैसे दुर्गुणों की ओर ले जाकर बुद्धि-नाश की स्थिति में ला-

पड़ती है। स्मृति-भ्रंश और बुद्धि-नाश की इस स्थिति से उसका समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता है और वह कभी कल्याण-मार्ग की ओर नहीं बढ़ पाता। इसलिए श्रेय चाहने वाले योगीका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विषयों का चिन्तन न करते हुए सदैव अपने मन को परमात्म-चिन्तन अथवा इष्ट-चिन्तन में लगाये रहे।

× × × ×

यावत् स्वस्थ कलेवर गृहम्।

योग-साधकों को—योगिराज भर्तृहरिजी की इस चेतावनी को, एक अमूल्य उपदेश के रूप में सदैव अपने स्मृति-पटल पर अङ्कित रखने की जरूरत है कि जब तक हमारा यह शरीर रूपी मन्दिर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियाँ सक्षम हैं और जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है तभी तक श्रेयस्कारी, आत्म-कल्याणकारी कार्यों के करने में उन्हें रत्तीभर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। बुढ़ापा अथवा रोगग्रस्त हुए शरीर के जर्जर हो जाने पर कुछ करने की अभिलाषा मात्र ही शेष रह जाती है। ऐसी दशा में यदि कोई कुछ करना भी चाहे तो उसकी स्थिति ठीक उसी प्रकार हास्यास्पद हो जाती है, जैसे कोई घर में आग लग जाने पर कुआ खोदने की चेष्टा करे। जीवन क्षण भंगुर है, यह सोचते हुए एक-एक क्षण का उप-योग श्रेय की साधना में करते रहना चाहिए।

× × × ×

योगी को काल नहीं खाता।

समाधि से युक्त योगी को काल नहीं खा सकता है और न कर्म बाधा उत्पन्न कर सकता है, न उस योगी को कोई दूसरा पुरुष यन्त्र, मन्त्र और तन्त्रादि से अपने वश में कर सकता है। स्वामी आत्माराम ने अपनी हठयोग प्रदीपिका में इस मत का समर्थन इस प्रकार किया है —

खाद्यते न च कालेन न, बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि, योगी युक्त समाधिनः॥

यही बात पातञ्जल योग-दर्शन में ''ततः क्लेश-कर्म निवृत्ति'' सूत्र द्वारा कही गई है।

× × × ×

श्रद्धामय अभ्यास

यह याद रखना चाहिए कि जो साधक धीरज और दृढ़ता के साथ श्रद्धामय होकर अपने अभ्यास में लगे रहते हैं, वे अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। दृढ़ता इतनी अधिक होनी चाहिए कि योग-साधक इसके सम्बन्ध में यह धारणा करले कि चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न आयें, कितने ही विघ्न उसके सामने क्यों न उपस्थित हों, वह अपने दृढ़ अभ्यास से पीछे नहीं हटेगा। 'कार्यं साधयेयं वा देहं पातयेयं वा' का आदर्श वाक्य उसे सदा मार्ग-दर्शन देता रहेगा। अभ्यास योगकी निरन्तरता उसे सत्वगुण से आप्लावित करती वैराग्य की उस भूमिका पर ले जाकर खड़ी कर देगी, जहाँ से कि वह सभी सांसारिक कामनाओं से रहित होकर स्वरूप स्थिति को पा जाने में समर्थ हो सकेगा।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा ।

वर्ष २० अङ्क १	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मूर्त्तोमुनिर्न विरक्तो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः । तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगकाव्योपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥	अप्रैल १९८७

❀ अदीनाः स्याम शरदः शतम् ❀

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम
शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम
शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम
शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० ३६/२४

अर्थात्—(तत्) वह (देव-हितं) देवों के लिए हित-कारक (शुक्रं) पवित्र (चक्षुः) ज्ञान-तेज (पुरस्तात्) मेरे सम्मुख (उत् चरत्) उदित हो गया है । उस तेज में रहते हुए हम सब (शरदः शतं पश्येम) सौ वर्ष तक देखें, (शरदः शतं जीवेम) सौ वर्ष जीते रहें, (शरदः शतं शृणुयाम) सौ वर्ष सुनें, (शरदः शतं प्रब्रवाम) सौ वर्ष प्रवचन करें, (शरदः शतं अदीनाः स्याम) सौ वर्ष दीन न बनते हुए रहें, (शरदः शतात् भूयः) सौ वर्षसे भी अधिक आयु प्राप्त करके आनन्द के साथ रहें ।

हमारा विशेष लेख—

विश्व शान्ति और योग सिद्धान्त

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि प्रत्येक राष्ट्र में शान्ति और सुख-सम्वृद्धि का वातावरण व्यक्ति को राष्ट्र की मूल इकाई मानकर उसके चारित्रिक सुधार को प्राथमिकता दिए बिना सम्भव नहीं हो सकता। और व्यक्ति का आत्म-सुधार उसे यौगिक-मार्ग की ओर अभिमुख किये बिना नहीं हो सकता। अतः आवश्यकता है समूचे विश्व में योग प्रचार की राष्ट्रीय योजनायें बनाकर उन्हें अमल में लाने की।

—सं० स०

संसार में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र शान्तिपूर्ण सुख-सम्वृद्धि का जीवन व्यतीत करने की कामना रखता है। विश्वशान्ति का आन्दोलन इसी सुख-शान्तिमय जीवन जीने की कामना के आधार पर खड़ा है। मूलतः सभी राष्ट्र और उनके निवासी अशान्ति, उपद्रव, हिंसा और आतंकवाद से बचकर रहना चाहते हैं। भले ही इनमें से कुछेक हिंसा, उपद्रव और आतंक का वातावरण बनाने और फैलाने में अपनी कूट नीतिज्ञता का छिपा हाथ रखते हों, गुप्त रूप से अपनी सत्ताको कायम रखनेमें वे ऐसी कुनीतिको आश्रय और प्रश्रय देते हों पर खुले रूप में वे इसका समर्थन करने का साहस नहीं कर सकते। इसका कारण केवल यही है कि विश्व का जन-मानस चाहे वह किसी भी राष्ट्र का निवासी क्यों न हो शान्ति का पक्षधर है। समूचे विश्व के जन-मानस को इस सत्य में पूरी-पूरी आस्था है कि संसार का कल्याण जिसमें कि स्वयं उसका भी अपना कल्याण शामिल है शान्तिमय वातावरण में ही रक्षित रह पाना सम्भव हो सकता है। बिना शान्तिमय वातावरण के किसी भी कल्याणकारी योजना का क्रियान्वयन किसी राष्ट्र में नहीं हो सकता। आशंका, भय, हिंसा और आतंकवाद के वातावरण को मिटाने का प्रयास सभी राष्ट्रों की सरकारें किया करती है तथा ऐसे वातावरण को कायम रखने के लिए वे अपने रक्षाप्रबन्धों पर अरबों-खरबों की धनराशि भी व्यय किया करती है। लेकिन अनुभव यह बताता है कि शान्ति और हिंसा रहित वातावरण की स्थापना में राज्यसत्तायें, अपना अपरिमित धन व्यय करके भी सफल नहीं हो पातीं। आज के विश्व की हिंसामय स्थिति हमारे इस कथन का प्रमाण है। सत्ता और वैभव की अनुचित स्पर्धा आज प्रायः सभी राष्ट्रों में देखने को मिलती है। सभी देशों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की थी कि राष्ट्रों के

सत्ताध्यक्षों की अनुचित थोथे वैभव और विकास की स्पर्धा को मर्यादित करके सभी राष्ट्रों को और उसके निवासियों को अपने ढङ्ग से अपने विकास और समृद्धि का अवसर प्रदान किया जाय ताकि विश्व के मानव को समानता और शान्ति के वातावरण में जीने का पूरा-पूरा अवसर मिल सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के इस दिशा में किए गए प्रयत्न सराहनीय भी रहे हैं किन्तु यह सच्चाई भी अपनी जगह कायम है कि विश्व में इसके सद्-प्रयासों के बावजूद हिंसा, उपद्रव और आतंक का वातावरण और अधिक घना हुआ है। महाशक्तियों ने ऐसे आणुविक हथियारों की ऐसी संहारक क्षमता प्राप्त करली है, जिसके आधार पर अगर वे चाहें तो क्षणमात्र में अपने आदेश मात्र से अपने घरों में बैठे-बैठे ही संसार के निरीह मानवों का समूलोन्मूलन कर सकते हैं। महाविनाश की इस स्थिति से बचने के लिए भारत ने विश्व-शक्तियों को सदैव ही सावधान किया है।

अपने अस्तित्व के प्रारम्भ से ही समूचे विश्व में सुख और शान्तिमय वातावरण बनाने का भारतवर्ष न केवल पक्षधर रहा है बल्कि उसके तपोपूत मनीषियों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सूत्र देकर सारे संसार के मानव कुल को अपना ही आत्मीय कुल अथवा परिवार मानने का एक आदर्श मन्त्र दिया और सुख तथा शान्ति का जीवन जीने के उद्देश्य को ही अपना मुख्य उद्देश्य घोषित किया। जैसाकि यजुर्वेद के इस मन्त्र से स्पष्ट है:—

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि।

यजु० ३६/२४

यजुर्वेद का यह मन्त्र जिसे हमने प्रातः, सायं नित्य ही अपनी प्रार्थना का मुख्य अङ्ग बनाया हुआ है, हमारी इस भावना का प्रतीक है कि हम भारतवासी न केवल इस अपने भूखण्ड पर शान्ति चाहते हैं, बल्कि चाहते यह हैं कि भूमण्डल से सम्बन्धित द्यौ अन्तरिक्ष आदि जितने भी लोक हैं तथा वनस्पति नदी, पर्वत आदि जो कुछ भी प्राकृतिक सम्पदा हमें सुलभ है एवं जिसका मानव-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है, सबमें शान्ति का वातावरण व्याप्त रहे, ऐसी हमारी कामना रहती रही है।

भारत की यह मान्यता रही है कि किसी भी राष्ट्र का प्राण उसमें निवास करने वाला मानव-कुल हुआ करता है। इसी मानव कुल को हम समाज के नाम से भी सम्बोधित किया करते हैं। इसी समाज के बहुमुखी विकास एवं उसकी उन्नति तथा आचार-शीलता को ही राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय आचार की संज्ञा दी जाती है। जिस राष्ट्रका समाज चारित्रिक शुचिता की दृष्टिसे जितना उन्नत और शिष्टता-सम्पन्न होता है उतना ही उन्नत और शिष्टता सम्पन्न उसका वह अपना राष्ट्र भी होता है। चूँकि समाज का निर्माण व्यक्तियों से होता है, इसलिए समाज और उस समाज के राष्ट्र के निर्माण के लिए

यह आवश्यक है कि राष्ट्र और समाज की मूल इकाई व्यक्तिके निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाय। भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति के चरित्र-निर्माण को ही राष्ट्र अथवा समाज के निर्माण की मूल धुरी माना है तथा अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे व्यक्ति निर्माण पर सदैव ही बल देते रहे हैं। भारत के आदि पुरुष मनु ने भारतीय संस्कृति की इसी मान्यता के आधार पर ऊर्ध्व बाहु होकर घोषणा की थी —

एतद्देश प्रसूतस्य,
सकाशाद् अग्रजन्मना।
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन्,
पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् पृथ्वी के सभी मानव इस देश में पैदा हुए अग्रजन्मा पुरुषोंके चरित्रों से शिक्षा लेकर ही अपने-अपने चरित्रों का निर्माण करें।

पर व्यक्ति का निर्माण कैसे हो? ऐसे व्यक्ति का निर्माण जो अपने चारित्रिक प्रकाश से, उसकी शुभ्रता और उज्ज्वलता से दूसरोंके चरित्र को उज्ज्वल बना सके। वैदिक ऋषियों ने इसके लिए एक जगह नहीं, किन्तु अनेक जगह यह निर्देश दिया है कि इसके लिए जब तक मनुष्य उस निर्भ्रान्त, निर्दोष, सर्व सद्गुण सम्पन्न पराशक्ति से जो इस ब्रह्माण्ड का संचालन कर रही है— अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं जोड़ेगा, तब तक उसे वह शक्ति-क्षमता और गुणवत्ता प्राप्त नहीं हो सकती, जो उसे उसके जीवन उद्देश्य के अन्तिम बिन्दु तक पहुंचा सके। विचार कीजिये ऋग्वेद के इस मन्त्र पर :—

युञ्जानः प्रथमं मनस्त-
त्त्वाय सविताधियम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य
पृथिव्या अध्याभरत्॥

अर्थात्—योग के करने वाले मनुष्य तत्व अथवा ब्रह्म ज्ञान के लिए पहले जब अपने मन को परमेश्वर से युक्त करते हैं तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। तभी वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथ्वी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।

आशय यह है कि मनुष्य यदि अपने में उच्चतम क्षमता,शक्ति और गुणों का भण्डार भरना चाहता है तो उसे सफलता तभी मिलेगी जब वह इस परमात्मशक्ति से अपने मन और बुद्धि का सम्बन्ध गहराई से जोड़ ले। ऐसा सम्बन्ध बिना योगी- जीवन की मर्यादा का पालन किए सम्भव नहीं हो पाता। भारतीय दर्शनकारों ने इसीलिए योग सिद्धान्तों का गहराई से अध्ययन और मनन करके योग-दर्शन की अनुपम रचना विश्व के सामने प्रस्तुत की। योग-दर्शन के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने योग सूत्रों के रूप में जीवन निर्माण के बुद्धि संगत विद्वत्ता पूर्ण ऐसे सूत्रों की सम्पदा मानव कुल के सामने प्रस्तुत की जिसका सहारा लेकर उस परा सत्ता से धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में हम

अपना प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़कर शाश्वत सुख और शान्ति को प्राप्त कर अक्षय आनन्द का उपभोग कर सकते हैं।

मनुष्य, मनुष्य बना रहे और इससे भी ऊपर उठकर वह देवत्व प्राप्त कर सके बजाय इसके कि वह मनुष्यता से नीचे उतरकर हिंसक और दुष्ट प्रवृत्तियों को अपनाकर दानवता के फिसलन भरे रास्ते पर पहुंचे। इसके लिए इस अष्टांग योग के मार्ग के अन्य कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं हो सकता। बिना किसी वर्ग वर्ण, देश और काल के भेद के योग-दर्शन का मार्ग ही ऐसा सुखकर और कल्याणकर मार्ग है जिस पर बिना किसी रुकावट के संसार का कोई भी मनुष्य सुगमता से आगे बढ़कर आ सकता है। न कोई सम्प्रदाय इसमें बाधक बनेगा और न कोई जाति देश या काल। तन और मन दोनों से स्वस्थ और सबल सदाचारी नागरिक बनाने की जैसी कुञ्जी योगवेत्ता ऋषियों ने दी है, वैसी कहीं अन्यत्र मिल पाना दुर्लभ ही रहा है। मनुष्य के अन्तरमन में छिपी हुई दानवी और पाशविक वृत्तियों को निकालकर बाहर फेंक देने की जैसी क्षमता और सामर्थ्य योग के यम-नियमों की अवधारणा में है वैसी अन्यत्र कहीं भी किसी ग्रन्थ में नहीं पाई जाती। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष आदि व्रतों के वरण का जो समुदाय अभ्यासी होता है उसमें उदण्डता अनुशासनहीनता, लोभ, मोह, काम, क्रोध जैसे दुर्गुण रहते ही नहीं हैं और जब दुर्गुण विहीन मानव समुदाय का धरती पर बाहुल्य होगा तभी सारा संसार शान्ति और सुख समृद्धि का, आपदा रहित जीवन बिता सकेगा। जब असंग्रह और अपरिग्रह की वृत्तियां मनुष्य के मन की गहराई में बैठ जावेंगी तब धन सम्पदा और भोग-विलास की सामग्री तथा साधनों के संग्रह की दोषवृत्ति को स्थान ही नहीं रहेगा। इस दोष वृत्ति के न रहने पर तस्करी, कालाबाजारी आदि के कुत्सित व्यापार भी नहीं पनप सकते। योग सिद्धान्त मनुष्य को ऐसा ही निष्पाप और निर्दोष जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता रहता है। जब इस प्रकार के व्यक्तियों का समाज में बाहुल्य होगा तो पूरा समाज आदर्श समाज के रूप में विकसित हो सकेगा। ऐसे समाज का विकास ही समृद्ध सम्पन्न तथा चरित्रवान राष्ट्र के विकास का लक्षण हुआ करता है। अतः आज के युग में जिसे अशान्ति, आपाधापी की स्पर्धा का युग कहा जा सकता है, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि प्रत्येक राष्ट्र में योग धर्म और योग सिद्धान्तों के परिपालन की प्रक्रिया का प्रचार हो। दुनिया में योग के प्रति निष्ठा और रुचि भी कुछ अधिक बढ़ती हुई सी प्रतीत हो रही है। भारी संख्या में विदेशी पर्यटक भारत में प्रति वर्ष आकर यहां के योगियों और योगाश्रमों से सम्पर्क जोड़ते रहते हैं। यहां रहकर वे योग की प्रक्रियाओं का गहराई से अध्ययन करके उन्हें आत्मसात् करने की भूमिका भी निभाते रहते हैं। यह

उनकी योग के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि का ही प्रमाण है। विदेशों में भी भारतीय योगियों द्वारा संचालित बहुसंख्यक योगाश्रम योग-सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं। जरूरत इस बात की है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ योग-सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने और उन्हें अपने यहाँ गतिशील बनाने हेतु यौगिक शिक्षा विभाग की स्थापना करे ताकि अन्य जनोपयोगी योजनाओं के समान यह योजना भी प्रशासकीय प्रश्रय पाकर अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से भी यह कार्य सुविधा पूर्वक किया जा सकता है। जिस प्रकार विश्व जनसंख्या के नियंत्रण का कार्य विश्व-स्वास्थ्य संघ द्वारा व्यापक पैमाने पर किया जा रहा है, उसी प्रकार जितेन्द्रिय, सदाचारी, सेवा तथा त्यागभाव परायण व्यक्तियों के निर्माण का कार्य भी इस विभाग द्वारा होना संभव हो सके। जरूरत है इस बात की कि राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि मनीषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो। हाल ही में दिल्ली में आयोजित विश्व योग सम्मेलन में और सम्मेलन से बाहर भी आयोजित अन्य योग-सम्मेलनों के अवसरों पर भारत के राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिंह ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि व्यक्तिके उत्थान का उसकी प्रसन्नता और सम्पन्नता का तथा उसे स्वस्थ और दीर्घायु प्रदान करने का सुलभ साधन योग के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सभी धर्म मजहब और सम्प्रदायों की मान्यता है कि योग-सिद्धान्तों के अनुगमन करने में किसी व्यक्ति को भी उसका धर्म और सम्प्रदाय कोई बाधा नहीं पहुँचाता। जब सर्व सम्मत यह मान्यता योग-सिद्धान्तों को प्राप्त है तब उसके प्रचार-प्रसार की प्रशासकीय योजनायें बनाकर उनके क्रियान्वयन में राष्ट्रीय और सामाजिक स्तर पर किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विश्व की शान्ति और समृद्धि का एक मात्र मार्ग जब यौगिक जीवन-प्रणाली में समाहित है तब लोक-कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी प्रतिनिधि संस्थाओं को प्रत्येक राष्ट्र में इसके प्रचार-प्रसार का दायित्व वहन करना ही चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार कि उसने जन-संख्या नियंत्रण और विश्व स्वास्थ्य रक्षा के लिए अपने प्रयासों को सकारात्मक रूप दे रखा है। भारत में और भारत से बाहर जो संस्थायें यौगिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं, उन्हें और अधिक गति देने के लिए उनको शासन द्वारा उचित सहयोग एवं सम्भव साधनों की उपलब्धि कराने का शुभारम्भ होना चाहिए। विश्व स्तर पर अगर विविध राष्ट्रीय सरकारें इस दिशा में कुछ कदम बढ़ा सकीं तो हम समझेंगे कि दिल्ली में आयोजित विश्व योग-सम्मेलन और उसमें योग-धर्मकी उपयोगिता पर दिया गया महामहिम राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जी का उद्बोधन अपनी समुज्जवल और सार्थक सी छाप छोड़ गया है। विश्व-शान्ति के हित में ऐसा हो यह हमारी शुभकामना है।

एक दिन की बात

श्री दर्शनानन्द

आनन्दकन्द श्री गुरुदेवजी महाराज आषाढ़ी पूर्णिमा पर आयोजित गुरु-पूजन महोत्सव के उपरान्त तुरन्त ही श्रावण मास में अपनी उपस्थिति और निर्देशन में रुद्राभिषेक महायज्ञ का शुभारम्भ करा देते हैं, जिसका समापन भगवान् श्रीकृष्ण जन्म-जयन्ती भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के करीब हो जाता है। इस रुद्राभिषेक महायज्ञ में अनेक गुरु-भाई-बहन भी गुरुदेवजी की पूर्व स्वीकृति पाकर अपने निज के साधना अनुष्ठान को दृढ़ से दृढ़तर बनाने की भावना से सम्मिलित हो जाने का लाभ उठा लेनेका अवसर भी प्राप्त कर लेते हैं। इस महायज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए श्री महाराज सुयोग्य वैदिक यज्ञ-याग की क्रियाओं में कुशल ब्रह्मचारियों की टोली का चयन स्वयं करते हैं। महाराज-श्री इसी महायज्ञ की प्रारम्भिक तैयारियों की जानकारी गुरु-भवन में विराजे हुए कुछ अन्तःवासी ब्रह्मचारियों से ले रहे थे। तभी प्रातः वेला में एक चार सदस्यीय प्रतिनिधि मण्डल उनके दर्शनार्थ आ उपस्थित हुआ। इनमें से एक आश्रम तथा महाराज श्री से पूर्व परिचित थे, उन्होंने ही अपने साथ आये शेष तीन महानुभावों का परिचय देते हुए कहा कि हम सब आगरा आर्य समाज से आए हुए हैं और हमारे आने का अभिप्राय है आगरा नगर में आर्य समाज द्वारा चलाये जा रहे वैदिक व्याकरण सत्र के सम्बन्ध में आपसे कुछ मार्ग दर्शन लेना। इन्होंने यह भी बताया कि यह सत्र केवल पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण को मूल आधार बनाकर निःशुल्क रूप से चलाया जा रहा है। लगभग २०० छात्र-छात्रायें इस शिविर का लाभ ले रहे हैं। शिविर में अध्यापन का कार्य आंध्र प्रदेश निवासी श्री धर्मानन्दजी शास्त्री कर रहे हैं। यह अपने ढंग के भारत में एकमात्र ऐसे वैयाकरणी हैं जो स्व० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की पाठ्य प्रणाली का अनुसरण करके आर्ष व्याकरण परम्परा की पद्धति को आगे बढ़ा रहे हैं।

इतना कहने के पश्चात् इन पूर्व परिचित परिचायक ने अपने साथ आये हुए व्यक्तियों में से एक की ओर इंगित करके बताया कि ये हैं धर्मानन्द शास्त्री जो निःशुल्क रूपमें मात्र सेवाभाव से आर्ष व्याकरण प्रणाली को आगे बढ़ाने का व्रत लिए हुए हैं। आप आजीवन इसी प्रणाली के प्रचार में अपने को समर्पित किए हुए हैं। ये ऐसा शिविर जैसा कि यहाँ चला रहे हैं देश के कुछ और बड़े-बड़े नगरों में चला चुके हैं। विद्यार्थियों से अथवा शिविर के आयोजकों से ये कोई शुल्क भी नहीं लेते, केवल उनकी सेवा एवं श्रद्धा-भावना को ही दक्षिणा रूप में स्वीकार करना इनका अपना नियम है।

श्री गुरुदेवजी धर्मानन्द शास्त्री का परिचय पाकर बड़े प्रसन्न हुए और शिविर के आयोजन के लिए उनकी निःस्वार्थ सेवा-भावना की सराहना करते हुए उनसे पूछने लगे, लल्ला! क्या तुम गृहस्थ धर्म का पालन

कर रहे हो ? उन्होंने कहा, नहीं ! मैं ब्रह्मचारी हूं और आजीवन ब्रह्मचारी रहते हुए ही इस सेवा के प्रति समर्पित रहने पर दृढ़ हूं।

आनन्दकन्द श्री गुरुदेव जी महाराज ने पाँच फुट के मझोले और अत्यन्त सादा खादी के शुभ्र परिधान वाले धर्मानन्द शास्त्रीको बाँह पकड़कर उठाया और अपने हृदय से लगाकर दो मिनट तक यथावत् अवस्था में रख कर उनकी पीठ को अपने कृपाकरों से थपथपाते हुए कहा—मैं भी आश्रम में योग-शिक्षा के प्रचार के लिए एक योग-विद्यालय की स्थापना का विचार रखता हूं। तब तुम्हारे जैसे जितेन्द्रिय कर्मठ निष्ठवान व्यक्ति की मुझे आवश्यकता रहेगी। आशा है, अवसर आने पर मुझे तुम्हारी सेवाएं उपलब्ध रहेंगी।

श्री गुरुदेव जी ने इसके बाद शिविर के आयोजकों से कुछ और भी जानकारी ली और यह जान लेने पर कि उत्तीर्ण छात्रों को जो इस शिविर में अध्ययन कर रहे हैं, सत्र के समापन पर एक विशेष समारोह में ज्ञान-वर्द्धक ग्रन्थ देकर उन्हें सम्मानित किया जायेगा महाराजश्री ने बिना माँगे ही अपनी जेब से ५००) रु० की धन-राशि निकालकर श्री धर्मानन्द को दी और कहा कि छात्रों को पुरस्कृत करने में तुम चाहे जैसा इसका उपयोग कर लेना। इसके पश्चात् प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों ने श्री गुरुदेवजी से प्रार्थना करके यह स्वीकृति भी लेली कि सत्र दीक्षान्त समारोह में आप ही मुख्य अतिथि के रूप में अपनी उपस्थिति और प्रवचन से हम सबको आभारी करने की कृपा करेंगे।

हुआ भी ऐसा ही जब नागगंज आर्य-समाज मंदिर में सत्र का समापन समारोह हुआ तो महाराजश्री ने भी इसमें पधारने की कृपा की और अपने महत्वपूर्ण प्रवचन में छात्रों तथा अन्य उपस्थित-जनों को ज्ञान की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने सार रूप में बताया कि मृत्यु पर विजय करके अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा जिन्हें पूरी करनी है उन्हें ब्रह्मचर्य का व्रत अनिवार्य रूप से धारण ही करना चाहिए। बिना ब्रह्मचर्य के दीर्घायु सुख सम्पन्नता आदि में से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। तुम चाहे ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, सबको मेरा यही परामर्श है कि किसी भी रूप में रहने पर तुम्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि स्व० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जिन्होंने कि पाणिनीय व्याकरण प्रणाली का पठन-पाठन अनिवार्य बताया है उसी वैदिक विद्यालय के विद्यार्थी थे जिसमें श्री गुरुदेवजी महाराज ने कभी वेदाध्ययन किया था।

सत्र के समापन प्रवचन में श्री महाराज ने शिविर संचालकों और छात्रों को जिज्ञासु-परिवार कहकर सम्बोधित किया और कहा कि आर्ष व्याकरण के प्रति स्वर्गीय जिज्ञासुजी की सेवायें सदैव स्मरणीय रहेंगी। बनारस का पाणिनीय कन्या महा विद्यालय उनकी सेवाओं और आकांक्षाओंका मूर्तरूप है।

इस अवसर पर श्री गुरुदेवजी महाराज ने वेद-साहित्य के सुप्रसिद्ध मनीषी और अद्वितीय शोध विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक को भी उनकी सेवाओं के लिए प्रशंसित किया था।

चित्त की प्रसन्नता के साधन

❁ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम० ए०

प्रसन्नता ही जीवन का सबसे बड़ा धन है। अन्य सभी प्रकार के भौतिक धनों को प्राप्त करने के लिए बाहरसे कुछ लाना पड़ता है और श्रम करना पड़ता है, किन्तु प्रसन्नता के लिए बाहर से कुछ लाना नहीं पड़ता। प्रसन्नता जीवन की सहजता है। बालक जब सहज होता है तब उसमें प्रसन्नता स्वाभाविक रूपसे आ जाती है। उस प्रसन्नता की अवस्था में बालक सुख-दुःख की द्वन्द्वात्मक स्थिति से परे एक अद्भुत आनन्द की स्थिति में होता है, जहाँ देश और काल दोनों समाप्त जैसे हो जाते हैं। प्रसन्न होने की स्थिति में मन अपने आप अन्तर्मुखी हो जाता है तथा एकाग्रता आ जाती है। प्रसन्नता की स्थिति में जो भी चिन्तन होता है वह व्यापक एवं सूक्ष्म सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक चिन्तन होता है। अवसाद के क्षणों या आलस्य के क्षणों का चिन्तन दूसरे को भी अवसादयुक्त बनाता है तथा उसकी व्याप्ति अल्प हुआ करती है। बालक का जीवन प्रसन्नता का सच्चा प्रतिरूप है। वह जब प्रसन्नता की स्थिति में होता है, तो अपने में रमण करता है। वह सच्चे अर्थों में गीता की "आत्मक्रीड" और "आत्मरति" की स्थिति में होता है। इस स्थिति में लाने के लिए योगाश्रम सवाईमें जीवन-तत्त्व-साधन के अन्तर्गत बाल-मचलन और बालक का ध्यान ये दो क्रियायें विशेष रूप से कराई जाती हैं। इन दोनों क्रियाओं से शनैः-शनैः मनकी पकड़ देश और काल से ढीली होती है और व्यक्ति सहज स्वभाव की ओर अग्रसर होता है जहाँ से आनन्द का स्रोत और झरना कल-कल करके बहता अनुभव होता है। जो अपने को बालरूप में अनुभव नहीं कर पाते वे प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर पाते। प्रसन्न चित्त महापुरुष बच्चों के साथ अधिक निकटता से घुल-मिलकर खेलने लगते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपने ऊपर गम्भीरता और बड़प्पन का आवरण डाले रहते हैं वे कुण्ठाओं और आकांक्षाओं तथा चिन्ताओं के बोझ से दुःखी बने रहते हैं।

जो व्यक्ति प्रसन्न रहना नहीं जानता, वह दूसरों को कभी प्रसन्न नहीं कर सकता। कुछ लोग हर समय मुहर्रमी सूरत लिये रहते हैं और अपना मुँह लटकाये रहते हैं मानो सारे संसार का दुःख उन्हीं के हिस्से में आ गया दुःख भले ही दूसरे से और दूसरे कारणों से प्राप्त होने वाली भावदशा हो, किन्तु प्रसन्नता स्व विचारजन्य स्वाधीन भावदशा है। प्रायः देखा जाता है कि जितनी दुर्घटनाएँ या हानियाँ होती हैं वे चित्त की अवसाद युक्त स्थिति में कार्य करने पर होती हैं। प्रसन्न चित्त होकर कार्य करने पर सफलता ही सफलता है, इस रहस्य को बहुत कम लोग समझ पाते हैं। प्रसन्नता से किसी से बात करने पर दूसरे व्यक्ति के मन का दुःख दूर हो जाता है। उनके मन में भी सात्विक परिमाणु

प्रविष्ट हो जाते हैं। प्रसन्नता की स्थिति में सर्वस्व त्याग की आत्मरूप स्थिति है। प्रसन्नता की स्थिति में मोह, शोक और आसक्ति बंधन अपने आप शिथिल हो जाते हैं जिनका जीवन जितना सात्विक है, आहार-विहार जितना सात्विक है, वे उतने ही अधिक प्रसन्न होते हैं। दुष्ट व्यक्ति भी प्रसन्न होते हैं लेकिन उनकी प्रसन्नता आन्तरिक न होकर बाह्य आलम्बन पर आश्रित होती है। वे किसी का अनिष्ट करके प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होते हैं तब जब देखते हैं कि दूसरा उनकी तुलना में कम है। दूसरे पर विपत्ति देखकर या किसी को हानि पहुंचाकर जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता नहीं होती, बल्कि असूया, मात्सर्य, मन्यु जैसे मनोविकार हैं। ऐसे व्यक्ति मनोरोगी होते हैं। जो दूसरे को सुखी देखकर प्रसन्न होता है वही सच्ची प्रसन्नता है। जो दूसरे का दुःख दूर कर प्रसन्न हो सकता है वही सच्ची प्रसन्नता को पा सकता है। दूसरे से कोई वस्तु प्राप्त कर जितनी खुशी होती है उससे अधिक खुशी दूसरों को अपनी वस्तु देकर हो सके, तभी सच्ची प्रसन्नता का वरण हो सकता है।

दुःख की अपेक्षा प्रसन्नता अधिक संक्रामक है। दुःखी व्यक्ति जब रोता है तो उसे दुःख को अकेले ही अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जब प्रसन्न व्यक्ति हँसता है तब उसे देखकर सभी हँसने लगते हैं। प्रसन्नता में प्रसार है और मनहूसियत में दिल सिकुड़ता है। प्रसन्न रहनेपर शरीर में ऑक्सीजन अधिक मात्रामें प्राप्त होता है तथा शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं। जबकि दुःखी व्यक्ति अनेकों रोगों और कठिनाइयों का निमन्त्रण देता है। जो व्यक्ति प्रतिदिन उन्मुक्त रूपसे अट्टहास करता रहता है, वह बहुत कम बीमार होता है। हँसना एक प्रकार से फेफड़ों का व्यायाम है तथा आन्तरिक प्रसन्नता मन का व्यायाम है। योग साधना में ध्यान के लिए विभिन्न स्थितियों में अपने इष्ट का ध्यान, भिन्न-भिन्न आसन, वाहन, मुद्रा तथा वर्णायुध आभूषण-युक्त स्थिति में करने का विधान है। उसमें "प्रसन्न वदनं ध्यायेत् सर्व विघ्नोपशान्तये" विघ्नों की शान्ति के लिए इष्ट का ध्यान प्रसन्न भाव मुद्रामें करने का विधान है। इष्ट का ध्यान आह्लाद युक्त होकर प्रसन्न मुद्रा में करते रहने पर मनके अन्दर आनन्द की सूक्ष्म तरंगें सक्रिय हो जाती है जो कि अनिष्ट कर्म विपाक को शीघ्र निःशेष कर देती है।

हमारे मन में यह गलत धारणा रहती है कि हम तब तक प्रसन्न नहीं रह सकते जब तक हमारे पास अमुक-अमुक वस्तुएं न हों। जिनके पास सब कुछ है वे अधिक दुःखी और चिन्तित दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि उनकी इच्छाओं का जाल उतना ही बड़ा होता चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे मन और इन्द्रियों के भोग की मृग-तृष्णा में फंसकर दुःखी होते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अध्यात्म-प्रसाद का अनुभव नहीं कर पाते, क्योंकि प्रसन्नता वस्तुओं में नहीं है, प्रसन्नता बहिर्मुखी वृत्तिमें भी नहीं है, प्रसन्नता अन्तर्मुखी

तथा एकाग्रता में है। यह स्थिति वस्तु निरपेक्ष है। जिनके पास प्रसन्नता रूपी धन है वे लँगोटी लगाये होने पर भी किसी शाहंशाह से अपने को कम नहीं समझते। स्वामी रामतीर्थ अपने को शाहंशाह समझते थे।

मन की प्रसन्नता का फल है 'सौम्यत्व'। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने मानस तप के अन्तर्गत प्रसन्न चित्त रहने का उपदेश दिया है। (१६/१६) प्रसन्न मन होने पर मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है। साधक के व्यवहार में प्रति पद पर प्रसन्नता, दया, करुणा, मैत्री, मुदिता आदि कोमल भावों के रूप में परिलक्षित होती है, इससे भाव शोधन हो जाता है। प्रसन्नता जितनी गहरी उतरती जाती है उतनी ही संस्कार राशि क्षीण होती जाती है और व्युत्थान दशामें भी। जीवन के प्रत्येक व्यवहार में आशावादिता, सुखानुभूति तथा थकावट का अभाव प्रतीत होने लगता है। प्रसन्नता का नशा व्यवहार दशा में उतरता नहीं। जैसे खिले हुए पुष्प की गंध चतुर्दिक व्याप्त होती है और दर्शकों को मनो मुग्धकारी हो जाती है। उसी प्रकार साधक के चित्त को उसके जीवन को सद्गुणों की सुगंध से व्याप्त कर देती है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और शोक आदि सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्न चित्त साधक के जीवन में मौन और ईश्वर-प्रणिधान बिना बुलाये मेहमान की तरह स्वतः आ जाते हैं। गीता कहती है—

प्रसादे सर्व दुःखानाम्,
हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु,
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
—गीता २/६५

अर्थात् जब मन राग-द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों को विषयों से लौटाकर उसी आत्मरूपी घर में बैठा दे। जिस प्रकार ग्वाला गायों को वनसे लौटाकर गौशला में ले जाता है। जब मन और इन्द्रियाँ आत्मा के वश में हो जाएँगी, तो साधक के जीवन में प्रसन्नता का अवतरण हो जायेगा। प्रसन्नता लाभ होने पर मन की चञ्चलता तथा भय, लोभ, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जाएँगे। जब तक मन चंचल रहता है तभी तक विषयों के पीछे घूमता रहता है। जैसे ही मन एकाग्र हुआ विषयों का साथ छूटने लगता है। मन निस्तरङ्ग भाव में हो जाता है। इस निस्तरङ्ग भाव का नाम ही संतोष है। निस्संकल्पता एवं निस्तरंगता से सारे दुःखों का नाश हो जाता है, फिर बुद्धिमें नाना भावोंकी खिचड़ी नहीं पकती। बुद्धि आत्म-प्रतिबिम्ब का अनुभव करने लगती है तथा बुद्धि भी निर्वात दीपक की भाँति शान्त एवं निश्चल होकर आत्म-ज्ञान में निश्चयात्मिका हो जाती है। आत्म-बोध होने पर सब रस फीके लगने लगते हैं। सन्त तुलसी कहते हैं—'जो मोहि राम लागते मीठे। तो षट्रस नवरस सब अनरस लगते फीके।' प्रसन्न मन ही निर्मल हो जाता है और निर्मल मन साधना में सिद्धि लाभ करता है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

प्रसन्न चित्त आकाश के समान व्यापक एवं निर्मल हो जाता है। अतः साधक को चिदाकाश की धारणा करके चित्त को प्रसन्न बनाना चाहिए। ज्ञान संकलिनी तंत्र में ऐसा कहा गया है कि चंचल चित्त में माया-शक्ति निवास करती है और स्थिर चित्त में चिदाकाश, महाकाशमें परमशिव निवास करते हैं।

चलच्चित्ते वसेच्छक्तिः स्थिर चित्ते वसेच्छिवः।

प्रसन्नता सम्पादन का दूसरा उपाय है—वर्तमान में जीना। प्रायः हम सभी लोग या तो बीते हुए भूतकाल में जीना चाहते हैं या भविष्यत् काल में। भूतकाल में जब हम जीने लगते हैं तो हमारी पकड़ वस्तुओं की ओर कड़ी हो जाती है और आसक्ति से हम घिर जाते हैं, जिससे उन अनचाही हुए और भोगी हुई वस्तुओं और व्यक्तियों के अलग होने पर हमें स्मृतिजन्य दुःख होता रहता है। बीते हुए दिनों को याद कर हम आंसू बहा कर वर्तमान सुख को भी भूतकाल के दुःख से विसार कर लेते हैं अथवा भविष्य के सुख-दुःख की आकांक्षा और कामना के हिंडोले में झूलते रहते हैं, जिससे अज्ञान तथा तज्जन्य मन की चंचलता हमें बहिर्मुखी बना देती है। ऐसे साधक को साधना में सिद्धि नहीं मिल पाती। जिसने प्रसन्न रहना नहीं सीखा वह गुरुदेव की प्रसन्नता या भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में अठारहवें अध्याय के ५४ वे श्लोक में जीने का उपदेश देते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा,
न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु,
मद्भक्ति लभते पराम्॥

—गीता १८/५४

अर्थात् आत्माकार चित्तवृत्ति होने पर साधक प्रसन्न होकर अध्यात्म-प्रसाद से युक्त हो जाता है। फिर वह आत्मा से भिन्न किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता तथा किसी वस्तु के नष्ट होने पर पश्चात्ताप नहीं करता, क्योंकि उसे सर्वत्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और नजर ही नहीं आता। शोक सदा भूतकालिक होता है। शोक द्वैत में ही पैदा होता है। श्रुति भगवती कहती है कि—"तत्र का शोक का मोहः एक त्वमनुपश्यतः।" जो सर्वत्र एक तत्वके दर्शन करता है, उसके लिए शोक और मोह का प्रसंग कहाँ आता है। उसकी दृष्टि किसी अन्य विषय पर जाती ही नहीं है। उसके लिए वर्तमान है सर्वत्र ब्रह्म। चराचर में एक अव्यक्त चेतन का दर्शन ही वर्तमान में जीना है, क्योंकि वह सत्ता इसी क्षण और इसी स्थान पर है—एक अनुभव ही वर्तमान भाव है। "इदमस्तीतिलब्धकाम्" ईश्वर यहीं है और इसी क्षण है अतः अभी उसकी अनुभूति करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा से साधना में प्रवृत्त साधक वर्तमान में जीने लगता है। वर्तमान बोध से प्रसन्नता आती है और शोक तथा लोभ का नाश होता है। लोभ के मूल में कामना होती है। शोक करने वाला मूढ़ होता है

और कामना करने वाला वैश्य होता है। जो असत् वृत्तियों को दूर कर सत् वृत्तियों का वरण करने का क्रियायोग करता है वह क्षत्रिय होता है तथा जो शान्त एवं वर्तमान बोध से युक्त समता-भावपरायण होता है वह ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण होकर साधक ईश्वर की पराभक्ति का अधिकारी बनता है, जहाँ समस्त ग्रन्थियों का विच्छेद हो जाता है। प्रसन्नता में चित्त व्याकुल नहीं होता और निराकुल चित्त समाधि का दाता बन जाता है। समाहित चित्त होने पर, प्रिय का वियोग होने पर या अप्रिय की प्राप्ति होने पर सर्वत्र साधक का समभाव, निर्व्याकुलभाव रहता है।

प्राण निस्पंदन से मन निस्तरंग होता है। जब मन शान्त हो जाता है तो चारों ओर आनन्द और प्रसन्नता की बाढ़-सी आने लगती है; जैसे नदी में बाढ़ आ जाने पर ऊँचा-नीचा, गहरा-उथला सब बराबर नजर आता है, ऐसे ही जो शोक और कामना रहित हो जाता है, वह सब प्राणियों में उस साक्षी चेतन के ही बराबर दर्शन करता है, जिससे वह राग-द्वेष वियुक्त होकर समाधि में रहता है।

पातंजल योग-दर्शन में चित्त की प्रसन्नता का एक और उपाय बताया गया है वह है—प्रतिपक्ष भावना का अभ्यास। हमारे प्राण कामना और शोक-क्रोध-लोभ आदि वृत्तियों के कारण क्षोभयुक्त होकर व्यथित होते रहते हैं जिससे वे इन्द्रिय और विषयों की ओर दौड़कर मन को चञ्चल बनाते हैं। यदि इस क्रम को उलट दिया जाय तो यही विपरीत भावना या 'उलटी-रहनि' कहलायेगी। इसी को योग-दर्शन में प्रतिपक्ष भावना कहा गया है। योग-दर्शन का सूत्र है—"मैत्री करुणा-मुदिता उपेक्षाणाम् सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।" जो व्यक्ति प्रसन्नता का लाभ कर रहे हैं तथा दिखाई पड़ते हैं उनके प्रति मित्रता का भाव रखने से चित्त प्रसन्न होता है। तत्त्व दृष्टि से देखा जाए तो सुखी प्राणियों में भी तो मैं ही आत्मा स्वरूप से विद्यमान हूं। अपने स्वरूप की उनमें भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है। पंच-तंत्र में एक कहानी आती है—मैत्री बल के सम्बन्ध में। कौवा, कछुआ, मृग और चूहा साधनहीन होने पर परस्पर मित्रता के कारण मैत्री बल से महान सङ्कटों, जैसे—व्याध, सिंह तथा अन्य आपघातक जीवों से आत्म रक्षा करने में सदा समर्थ रहे। इसी प्रकार सुखी प्राणियों से जो मैत्री की भावना करता है उसके मन में उनकी प्रसन्नता का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है, जिससे वह प्रसन्न होता रहता है। दूसरा उपाय है—करुणा का भाव। जिस प्रकार कठोर बर्फ पिघल कर जीवनदायक जल बन जाती है, उसी प्रकार दुःखी व्यक्तियों को देखकर हम अपनी कठोरता त्याग कर तरल और सरल बन जाएँ तो चित्त प्रसन्न होता है। कहा जाता है कि अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन पार्लियामेंट (व्हाइट हाउस) जा रहे थे तभी उन्हें विपन्नावस्था में कीचड़ में फंसा हुआ सूअर

साधो! सहज समाधि भली

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि होती है। ध्यान जब गाढ़ा हो जाता है तथा अनुभव करने वाला अनुभवगम्य हृदयमें खोजाता है, केवल अर्थमात्र (दर्शन का विषय मात्र) स्थिर हो जाता है और अपना बोध समाप्त सा हो जाता है, तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। बेहोशी, मूर्च्छा या क्लोरोफार्म की संवेदना शून्यावस्था को समाधि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन सभी अवस्थाओं में तमोगुणकी प्रधानता रहती है, जबकि समाधि में शुद्ध-सत्व का प्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को योग-दर्शन के भाष्यकार व्यासदेवजी महाराज समाधि कहते हैं। मन के समाधानको समाधि कहा जाता है। "समाधानं समाधिः।" मन जब संकल्प-विकल्प रहित होकर एकाग्र हो जाता है तो प्राणों की गति भी आड़ी-तिरछी न रहकर एक दिशा में प्रवाहित होने लगती है। प्राण ब्रह्म-नाड़ी में चलने लगते हैं। प्राण की गति के सूक्ष्म होने से आत्मानन्द का अनुभव होने लगता है। मन आत्मस्थ हो जाता है। कांच पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो कांच जगमग-जगमग हो उठता है। इसी प्रकार आत्मस्थ होने पर चेतना का अगाध एवं अनन्त समुद्र चारों ओर व्याप्त हो जाता है। उस समय सुख और आनन्द का अन्तर में अनुभव होता है। मन परम प्रफुल्लित हो उठता है। शरीर हल्का हो जाता है। तनाव, चिन्ता, तर्क-वितर्क, निराशा, दैन्य, बेचैनी सब शान्त हो जाते हैं। चारों ओर जैसे आनन्द की बाढ़ आ जाती है। समस्त सृष्टि आनन्द से ओत-प्रोत

दिखाई पड़ा वे उसे कीचड़ से बाहर निकालने के लिए उतर पड़े और करुणा के भाव में भरकर उन्होंने अपने समय पर पहुँचने तथा शाही वस्त्रों के गन्दे होने की चिंता परवाह किए सूअर को बाहर निकाल दिया। इस सब के कारण वे देर से कीचड़ में सने हुए कपड़ों में जब संसद में पहुँचे तो सांसदों ने सारा हाल जानकर उनकी करुणा की सराहना की। वे सराहना करने वालों से बोले—मैंने अपनी प्रसन्नता के लिए सूअर को कीचड़ से बाहर निकाला था न कि प्रशंसा पाने के लिए। दुःखी लोगों पर करुणा होने से अन्तःकरण अभिमान रहित हो जाता है। निर्मल हो जाता है। जिससे दया, दान तथा परोपकार के झरने से फूटते हैं। हमारी वाणी मधुर निकलती है। अहङ्कार बाहर से मन को समेट कर भीतर लाना चाहता है, करुणा भीतर को बाहर की ओर खोलती है। अहङ्कार संग्रह करता है और करुणा त्याग। पुण्यात्माओं में प्रेम होने से हृदय मुदित होता है जिससे असूया और कालुष्य दूर हो जाता है। पापियों से उदासीनता युक्त होने पर चित्त प्रसन्न रहता है।

लगने लगती है। होशमें बेहोशी और बेहोशी में होश, जागरण में सुषुप्ति और सुषुप्ति में जागरण की हालत होती है। लोक-व्यवहार यन्त्रचालित की भाँति चलते हैं। व्यष्टि-चेतना समष्टि चेतना में डूबी जान पड़ती है। गागर में सागर के दर्शन होते हैं। मन रूपी गागर सच्चिदानन्द रूपी सागर में सत रूपी जल से भर जाती है। जीवन की बाह्य समस्याओं का मन से सम्बन्ध टूट जाता है। समस्याओं के कारण सूक्ष्म में खोजने में आ जाते हैं। मन जब समाहित हो जाता है तो जीवन मधुरता से ओत-प्रोत होने लगता है।

यह सहज समाधि तब प्राप्त होती है जब सोते-जागते-उठते-बैठते-चलते-फिरते हर क्षण श्वास-प्रश्वास में मन्त्र का जप होने लगता है। मन्त्र के माध्यम से श्रीसद्गुरु शक्ति मन का समाधान कर देती है। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्द-स्पर्श रस रूप गन्ध विषयों से उपरत होकर इष्ट के चिन्तन दर्शन तथा स्मरण में तल्लीन होने लगती हैं। पञ्चदशी में स्वामी विद्यानन्द जीव और परमात्मा के सम्बन्ध के चिन्तन को बन्ध मुक्त होने का उपाय मानते हैं। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध का चिन्तन योग-दर्शन में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस सूत्र से प्रकारान्तर से कहा गया है। गुरु प्रदत्त मन्त्र का चिन्तन तथा उसके अर्थ की भावना करने से प्रत्यक् चेतन का अनुभव होता है। ईश्वर के ॐकारादि पवित्र नामों के जप तथा उनके अर्थ अर्थात् जीव और ईश्वर सम्बन्ध का विचार समाधि का जनक होता है।

अविचारकृतो बन्धो
विचारेण निवर्तते।
तस्मात् जीव परमात्मानौ
सर्वदैव विचारयेत्॥
५ पञ्च

स्वामी विद्यारण्यजी महाराज कहते हैं कि बन्धन ईश्वर और जीव के सम्बन्ध का विचार त्यागने से हुआ है। 'ईश्वर अंश जीव-अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी।' यह ईश्वर जीव संबंध का विचार है। 'सो माया-बस भयहु गोसाईं। बन्ध्यो कीट मरकट की नाईं।' यह बन्धन का कारण हुआ। दृष्टि द्रष्टा से हटकर सृष्टि में चली जाती है तो वही दुःख और बन्धन का कारण बनता है। जब दृष्टि द्रष्टा में लगती है तो यही सुविचार है। इसी का नाम समाधि है। द्रष्टा और सृष्टा से भिन्न जब कुछ और न दीखे 'नान्यच्छृणोति, नान्यत्पश्यति' तो वह भूमा, जीवन मुक्त हो जाता है। संस्कारों का प्रवाह जब तक निःशेष नहीं होगा तब तक दृष्टि स्थिर नहीं होगी। संस्कार जोर मारते रहेंगे, जिससे प्राण ऊपर नीचे गति करते रहेंगे। जब ध्यान द्वारा संस्कारों के स्थूल रूप को सूक्ष्म और उदार अवस्था में लाकर विच्छिन्न क्षीण कर लिया जाएगा तभी सहज समाधि की अवस्था उपलब्ध होगी। जब सहज समाधि होगी तो सहज स्वीकृति की स्थिति होगी। सुख दुःख, लाभ हानि सब कुछ समभाव से स्वीकार करना बिना विचार के नहीं आ सकता। 'विचार'

अवस्था समाधि अवस्था की द्योतक अवस्था है। जीव और परमात्मा के सम्बन्ध का विचार विचारानुगत समाधि में होता है। पञ्चदशीकार कहते हैं कि— सर्वथा जीव और परमात्मा का विचार करना चाहिए, उससे बन्धन से निवृत्ति हो जायगी। यहाँ अविचार और विचार में प्रयोज्य-प्रयोजक भाव है। विचार के अभाव में बन्धन रूपी भाव प्रयुक्त होता है। विचार का अभाव प्रयोजक है बंधनरूपी भाव का। जहाँ विचार नहीं होता वहाँ अज्ञान होता है। ज्ञान से निवृत्त होता है तो शास्त्रकार विचार के स्थान पर ज्ञान शब्द का प्रयोग करते। किन्तु शास्त्रकारों ने सर्वत्र 'विचार, जिज्ञासा, अनुशासन' इन वाक्यों का ही प्रयोग किया है। जैसे 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।' इसका अर्थ है कि जीव और ब्रह्म का विचार किया जाता है। 'सः' परमात्मा है। वेदान्त की भाषा में उसे 'तत्' कहा जाता है। 'अहम्' परिच्छिन्न जीव है। वेदान्त में उसे 'त्वम्' पद से कहा गया है। योग में जीव उत्तम पुरुष वाच्य 'अहम्' पद से अभिहित किया गया है। वेदान्त में जीव मध्यम पुरुष वाच्य 'त्वम्' पद से अभिहित किया गया है। वेदान्त में 'तत्' पद वाच्य ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है किन्तु योग में 'सः' पद वाच्य सविशेष चेतन पदार्थ आत्मा है। 'तत्वमसि' और 'अहंब्रह्मास्मि' पदों में 'तत्' और 'त्वम्' तथा 'अहं' एवं 'ब्रह्म' इन दो भिन्न देश कालावच्छिन्न पदार्थों की एकान्वयता जैसे जहत्अजहल्लक्षणा से तत्कालविशिष्ट और एतत्काल विशिष्ट सामान्य चेतन में होकर अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि होती है, उसी प्रकार 'सोऽहम्' प्रत्यय में 'सः' साक्षी द्रष्टा, चेतन, अकर्त्ता, निर्गुण, केवली, पुरुष है जो सदा मुक्त, बुद्ध एवं सिद्ध है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—उपनिषद् जिसके बारे में कहते हैं कि उस निरंजन चेतन के प्रकाश से ही सब कुछ रोशन है तथा 'अहं' प्रत्यय यह जीव सुखदुःखादि का भोक्ता गुणों को अपने में आरोपित कर स्वयं को कर्ता मानकर गुण परिणामों का भोक्ता कर्म संस्कारों में बंधा यह जीव है। इस प्रकार योग-दर्शन का 'अहं' गुणबद्ध चेतन आत्मा ही है। जब सद्गुरुदेव उसे स्वरूप बोध कराते हैं कि तू प्रकृति नहीं है। तू अष्टधा प्रकृति से भिन्न शुद्ध-बुद्ध मुक्त वही है जो कि महासिद्ध ईश्वर है। गीता में प्रकृति का स्वरूप भगवान् ने बताया कि—

भूमिरापोऽनलो वायुः,
खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे,
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—गीता ७/४

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये अष्टधा प्रकृति कही जाती है। इससे भिन्न एक अपरा प्रकृति भी है जिसे ईश्वर का स्वभाव कहा गया है, उसी से जीव सृष्टि है। यह पराप्रकृति वेदान्त की माया भक्ति शास्त्र की आह्लादिनी राधाशक्ति तथा तंत्रों की आद्याशक्ति भुवनेश्वरी 'श्रीं, क्लीं, ह्रीं' रूपा सृष्टि की आद्या शक्ति है। सर्वज्ञ, सर्वेश्वर भगवान् सदाशिव अपनी इस

परा-प्रकृति के आश्रय से ही सूत्रात्मा के रूप में जड़-चेतन सृष्टि में सर्वत्र ओतप्रोत है।

मत्तः परतरं नान्य-
त्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं,
सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता ७/७

भगवान् कहते हैं कि हे धनंजय! मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। मैं सर्वत्र मणियों में धागे की तरह व्याप्त हूँ।

मन को सर्व व्यापक सत्ता के साथ जोड़ना ही 'विचार' शब्द से कहा गया है। समाधि में ही चेतन का अनुभव हो पाता है। अतः समाधि अवस्था को सद्विचार कोटि में रखा जाता है। जब अखण्ड-मण्डलाकार तेज में मन लीन होकर आत्म-चेतन्य का अनुभव करने लगता है तभी जीव और परमात्मा के सम्बन्ध का चिन्तन बनता है। कोरे शब्द-ज्ञान या वाद-विवाद का नाम विचार नहीं है। इस प्रकार के विचारसे जीवनमें उत्क्रांति नहीं आ पाती। जब विचार के द्वारा मन प्रज्ञालोक के दायरे में प्रवेश करता है तभी विचार से जीव और परमात्मा के सम्बन्ध का विचार-बन्ध मुक्त करने में सहायक होता है और अस्मितानुगत समाधि में सो और अहम् की एक-वाक्यता होती है। उस स्थिति में विचार-निर्विचार में रूपान्तरित हो जाता है। ज्ञान-दीपक प्रसंग में सन्त तुलसी 'सोऽहं' भावको परिपुष्ट करने के उपायों का विस्तार से विवेचन करते हैं। सोऽहम् शब्द का जप करते-करते मन्त्र इन्द्रिय स्तर से मन के स्तर पर पहुंचता है। शनैः-शनैः मन्त्र (विचार) बुद्धि स्तर पर पहुंच जाता है। जैसे ही मन्त्र बुद्धिमय हो जाता है वैसे ही 'यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः'—जहां-जहां मन जाता है वहीं-वहीं समाधि हो जाती है। 'जित देखौं तित श्याममयी है'—यह स्थिति उस समय आ जाती है। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' सर्वत्र चेतन के सम्बन्ध से सब कुछ भासित होता है। इस समय जो कुछ भासित हो रहा है वह दृश्य है। चेतन के सम्बन्ध से रहित है। जैसे कठपुतली का नाच देखने वाला केवल कठपुतली को देखकर समझता है कि ये कठपुतलियां स्वयं नाच रही हैं, जो यह जान लेता है कि नचाने वाला इनको नचा रहा है। बल्कि यों कहना चाहिए कि नचाने वाला ही इन कठपुतलियों के रूप में स्वयं नाच रहा है। ऐसा जानने पर विशेष आनन्द होता है और अज्ञान और भ्रम नहीं होता। 'सबहिं नचावत राम गोसाईं।' को देखने वाला संसार में तटस्थ, दृष्टा भाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिए आवश्यक है सविशेष विचार। जैसे गाय भोजन करने के बाद जुगाली करती रहती है। जुगाली के बाद भोजन से दूध और शरीर का रक्त बना करता है। उसी प्रकार मन्त्र की बार-बार आवृत्ति (जप) करते रहने से ध्यान होता है। ध्यान एक प्रकार की जुगाली करना है ध्यान होने पर आत्मानुभव होता है। यहांसे समाधि द्वार खुलता है।

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा।
दीप शिखा सोई परम प्रचण्डा।।
आत्मानुभव सुख सुप्रकासा।
तब भव मूल अविद्या नासा।।

सहज समाधि आत्मानुभव का प्रकाश होने पर होने लगती है।

चेतनांश का जितना-जितना साक्षात्कार होता जाता है उतनी-उतनी समाधि दृढ़ होती जाती है। जब जीव और परमात्मा की संबंध भावना अनुभव-गम्य होने लगती है तो संयम-सिद्धि हो जाती है, जिससे चेतना के साथ मन को जोड़कर सर्वत्र व्याप्त, सबमें व्याप्त चेतन के द्वारा योगी प्रकृति पर अपना पूर्ण अधिकार कर लेता है। ध्यान ही समाधि रूप में परिणत होता है। योगसार संग्रह में ध्येयमात्र के आकार की चित्तदशाको समाधि कहा गया है। जब मनमें ध्येय वस्तुके विशेष आकर्षण के कारण ध्यान (अनुभव क्रिया) ध्येय (आलम्बन) ध्याता (ध्यान करने वाला) इन तीनों भावों से रहित होकर जब अनुभव ध्येयमात्र रहता है तो समाधि होती है।

तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद् ध्यान ध्येयध्यातृ भावदृष्टि शून्य सद्-ध्येयमात्राकारं भवति तदा समाधि रुच्यते ।।२।।

ध्यानावस्था में इन्द्रियों का विषयों से सन्निकर्ष होने पर ध्यान भंग हो जाता है। जैसे ध्यान करने पर ध्यान में चतुर्भुज नारायण के रूप का अनुभव हो रहा है। उसी समय कहीं से मधुर संगीत की ध्वनि आने लगी। मन मधुर संगीत की ओर खिंच गया और ध्यान भंग हो गया, किन्तु समाधि में ऐसा नहीं होता। ध्यान में वृत्ति कुछ समय के लिए एकाग्र होती है, किन्तु समाधि में वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक समय के लिए एकाग्र हो जाती है। श्रीमद्भागवत् में बाण बनाने वाले का उपाख्यान आता है। वह बाण बनाने में इतना तल्लीन था कि समीप से राजा तथा उसके अनुगतों के निकल जाने पर भी बेखबर रहा। उसे अपने कार्य के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण या आभास तक न हुआ। खुदी में ऐसी बेखुदी आ जाय तो समाधि हो जाती है, मन समाहित हो जाता है। जब मन आत्म चैतन्य आनन्द में इतना तल्लीन हो जाय कि अन्दर-बाहर उससे भिन्न कुछ भी न देख सके तो उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

तदैवात्मन्यवरुद्धचित्तो,
न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तं,
इषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ।।

अथर्ववेद कहता है कि "अष्टचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।" आठ चक्रों और नौ द्वारों वाला यह शरीर अयोध्यापुरी उसमें प्रकाशमय मोक्षदायी हिरण्यकोश है। अतः इस देह को देव-मन्दिर मानकर जीव रूपी शिव की सोऽहम् भाव से पूजा करता रहे—

देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवस्सदाशिवः।
सोऽहं भावेन पूजयेत् स हि मुक्तिमवाप्नुयात् ।।

तपोधन महामुनि पतंजलि

⊛ श्री गौतम

भारतीय संस्कृति, परम्परा और ज्ञान-विज्ञान के जो आधार हैं, उनमें पतंजलि का स्थान ऊँचा है। व्यास, पाणिनि आदि की तरह पतंजलि को भी आरम्भ में नमन किया जाता है। योगदर्शन के प्रणेता, व्याकरण महाभाष्य के कर्ता और आयुर्वेद की चरक-परम्परा के जनक के रूपमें चित्त, वाणी और शरीर के मल को दूर करने वाले मुनिप्रवर के लिए भर्तृहरि ने अपनी वाक्यपदीय के प्रारम्भ में लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां,
पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥

—योग से चित्त का, पद (व्याकरण) से वाणी का और वैद्यक से शरीर का मल जिसने दूर किया उस मुनिश्रेष्ठ पतंजलि को मैं अंजलि-बद्ध होकर नमस्कार करता हूँ।

भारत में स्थूल इतिहास लेखन का रिवाज नहीं रहा है। इसलिए पतंजलि की स्थूल जानकारी खास मिलती नहीं। उनके ग्रंथों से या आख्यायिकाओं से कुछ जानकारी बताई जाती है, जिसकी सत्यासत्यता के विषय में निर्णय करना बड़ा कठिन है।

पतंजलि गोनर्द ग्राम के रहने वाले थे और उनकी माता का नाम गोणिका था। उनके पिता के नाम की जानकारी नहीं है। यह गोनर्द कहाँ है? कहना कठिन है, इस बारे में विद्वानों में, मतभेद है। इतना ही कहा जा सकता है कि यह स्थान उत्तर भारत में कहीं होना चाहिए, क्योंकि कात्यायन मुनि को पतंजलि ने 'वह दाक्षिणात्य है' ऐसा कहा है।

ईसा के पहले दूसरी शती, में पतंजलि का समय माना जाता है। मौर्य सम्राट बृहद्रथ का वध करने वाले पुष्यमित्र शुंग के जमाने में पतंजलि थे, दोनोंमें मित्रभाव भी था; ऐसा महाभाष्य पर से सूचित होता है।

पतंजलि के जन्म के विषय में किंवदन्ति है कि एक बार श्रीविष्णु शेषशय्या पर लेटे थे। उस समय श्री शंकरजी का तांडवनृत्य शुरू हुआ। उन्हें नींद लगी नहीं थी इसलिए श्रीविष्णु का ध्यान उस ओर गया। उस नृत्य को देखने से भगवान् विष्णु को इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह आनन्द उनकी देह में समाता नहीं था, तो उनकी देह बढ़ने लगी। देह का यह भार शेष को असह्य होने लगा। और वे अपने सहस्र मुखों से फूत्कार करने लगे। शेष की हालत देख लक्ष्मीजी घबड़ा गयीं। उन्होंने विष्णु को हिलाकर जाग्रत किया। विष्णु के जाग्रत होते ही उनकी देह यथावत् हो गई और शेष ने आराम की सांस ली। शेष ने विष्णु भगवान से पूछा, "आज आपने मेरी परीक्षा लेनेकी सोचा था क्या?" तब भगवान ने शिव के तांडवनृत्य की कलात्मक श्रेष्ठता उन्हें समझाई। शेष ने कहा, 'मैं भी वह नृत्य देखना चाहता हूँ।' भगवानने

कहा, "फिर तो तुम एक बार पृथ्वी पर जन्म लो। तब तुम्हें वह नृत्य देखने को मिलेगा।" तदनुसार शेष अवतार लेने निकले। गोणिका पुत्र प्राप्ति के लिए तप कर रही थी। उसे ही शेष ने मातृ रूप में स्वीकार किया। वह जब अंजलि भर सूर्य को अर्घ्य देने लगी तब शेष सूक्ष्म रूप लेकर उसकी अंजलि में आ गये। गोणिका द्वारा अंजलि का पानी नीचे डालते ही वे बालक रूप में उसके सामने खड़े हो गये। गोणिका ने उसे पुत्र मानकर उठा लिया और कहा, "तुम्हारा मेरी अंजलि से पतन हुआ है इसलिए तुम्हारा नाम 'पतंजलि' रखती हूँ।"

पतंजलि ने बाल्यावस्था में ही सारा अध्ययन पूर्ण करके तप करना शुरू किया। तब शिवजी ने उसे चिदंबर क्षेत्र में अपना तांडव-नृत्य दिखाया और उसे आदेश दिया कि व्याकरणशास्त्र पर लिखो। उसी चिदंबर क्षेत्र में पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों पर और कात्यायन के वार्तिकों पर विस्तृत भाष्य लिखा। उसे ही महाभाष्य कहते हैं।

महाभाष्य की कीर्ति सुनकर हजारों शिष्य आने लगे, तो पतञ्जलि परदे के पीछे बैठकर सहस्र शिष्यों को अपने सहस्र मुखोंसे एक ही साथ सिखाने लगे। विद्यार्थियों को लगा कि ये एक साथ हजारों को कैसे सिखा सकते हैं? तो उन्होंने परदा हटाया। तब दर्शन हुआ कि सहस्र मुख शेष के रूपमें पतंजलि उन्हें सिखा रहे हैं। लेकिन शेष का तेज इतना उग्र था कि वे उस तेज से भस्म हो गये। केवल एक शिष्य बचा, जो उस समय पानी लेने बाहर गया हुआ था। पतंजलि ने उसे पूरा भाष्य सिखाया। "लायक शिष्यों को अब तुम सिखाओ।" ऐसा कहकर चिदंबर से चलकर वे गोनर्द में आये। वहाँ अपनी माताका दर्शन कर वे अपने शेष में लीन हो गये।

महामुनि पतंजलि के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं–

(१) व्याकरण महाभाष्य—पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रपाठ और कात्यायन के वार्तिकों पर यह भाष्य लिखा है। संस्कृत के गद्य साहित्य में यह अद्वितीय गद्य माना जाता है। श्री शंकराचार्य से लेकर अनेक आचार्यों ने अनेक सूत्रग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं, लेकिन वे सब 'भाष्य' कहे गये। पतंजलि का भाष्य 'महाभाष्य' कहा जाता है। महाभाष्य का अर्थ ही 'पातञ्जलभाष्य' होता है। इस भाष्य पर भर्तृहरि, कैयट आदि की कई टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। पाणिनि को पतंजलि ने ही सर्व प्रथम 'भगवान पाणिनि' कहा है।

व्याकरण महाभाष्य गम्भीर और सुस्पष्ट अर्थ प्रकट करने वाले छोटे-छोटे प्रासादिक वाक्यों का गद्य-ग्रन्थ है। 'कर्ता' की व्याख्या करते हुए पतंजलि कहते हैं, 'स्वतन्त्रः कर्ता।' इस सूत्र का उद्धरण विनोबाजी कई बार देते हैं। तत्त्वज्ञानी लोग भी इस भाष्य-ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं। व्याकरण जैसा नीरस और शुष्क विषय भी उन्होंने रसमय बना दिया है। पतंजलि के कारण व्याकरण-शास्त्र को भी दर्शन-शास्त्र की बराबरी में बैठने का

(शेष पृष्ठ ९५ पर पढ़िए)

एक कहानी—

योग की रीति

ब्र० श्री ब्रजमोहन वाशिष्ठ

एक बार श्री नारद मुनि भगवान् विष्णुजी के दर्शन के लिये बैकुण्ठ लोक गये। वहाँ पर भगवान् श्री विष्णु जी के द्वारपाल ने श्री नारद मुनि को अन्दर दर्शन के लिए जाने से रोक दिया। श्री नारद जी ने द्वारपाल से पूछा—आप मुझे क्यों रोक रहे हैं? द्वारपाल ने उत्तर दिया कि विष्णु भगवान् अभी ध्यान में बैठे हुए हैं। यह सुनते ही नारद जी को शङ्का हुई कि प्रभु हमसे कहते हैं कि मेरा ध्यान किया करो फिर ये किसका ध्यान करते हैं? यह शङ्का कर ही रहे थे कि अन्दर से विष्णु भगवान् ने नारद जी को बुला लिया। श्री नारद जी अन्दर गये और श्री विष्णु जी को दण्डवत्-प्रणाम कर बैठ गये। श्री विष्णु भगवान् ने नारदजी से पूछा कहिये! नारद जी कैसे आना हुआ? श्री नारद जी बोले—प्रभु आपके दर्शन के लिए आया था, किन्तु मन में एक शङ्का व्याप्त हो गई। श्री विष्णु भगवान् ने कहा—हे नारद! तुम्हारी शङ्का मुझे बहुत प्यारी लगती है, कहिए क्या शङ्का है? श्री नारदजी बोले—हे प्रभु! आप हमको अपना ध्यान करने को कहते हैं, फिर आप किसका ध्यान करते हैं?

श्री विष्णु भगवान् ने उत्तर दिया—हे नारद! जो मेरा ध्यान करते हैं, मैं उनका ध्यान करता हूँ। इस पर नारदजी को हृकृति पैदा हुई और श्री विष्णु भगवान् से बोले कि प्रभु फिर तो आप मेरा ध्यान करते होंगे, क्योंकि मैं नित्य आपका ध्यान करता हूँ। यह सुनते ही श्री विष्णु जी हँसे और बोले—नहीं नारद! गृहस्थ में भी तुमसे बहुत बड़े मेरे भक्त योगी हैं, जो निष्काम योग-परायण हैं तथा अनासक्त भाव से कर्म में लगे हुए मेरे ध्यान में लगे रहते हैं, जिनका चिन्तन अविच्छिन्न गति से चल रहा है। जो बड़े से बड़े दुःख-सुख, लाभ-हानि में भी समवृत्ति से रहते हैं और जिनका मुझे परिपूर्ण रूप से आत्म-समर्पण है अथवा जो स्थितप्रज्ञ हैं।

यह सुनकर नारद जी को एक झटका लगा और मन ही मन बहुत शर्माये। यह दशा देखकर श्री विष्णु जी नारदजी से कहने लगे, यदि तुम चाहो तो किसी एक की परीक्षा भी ले सकते हो। नारद जी ने पूछा भगवान् आप कृपा कर किसी एक का पता मुझे बतायें ताकि मैं परीक्षा ले सकूँ।

श्री विष्णु भगवान् बोले कि मेरा एक योगी गृहस्थी बच्चा अमुक नगर में रहता है, जिसका अमुक नाम है। यह सुनकर आज्ञा लेकर श्री नारद उस नगर में पधारे और एक स्थान पर बैठ गये। इधर उस गृहस्थ योगी का परिवार क्या था? मानो किसी ऋषि का आश्रम ही हो, सभी पारिवारिक-जन योग-परायण परम भक्त थे। सभी में आसक्ति का नाम न था, सभी के मन पर एक जबरदस्त छाप थी कि जितना जिसका संस्कार होता है, वह भोगकर चल देता है, इसमें दुःख-सुख की बात क्या है?

जिस दिन नारद जी उस नगर में पहुंचे उसी दिन इस गृहस्थ योगी ने अपने इकलौते पुत्र की शादी के उपलक्ष में समस्त नगर-वासियों की (एटहोम) दावत थी गृहस्थ योगी ने अपने अनुचरों को आज्ञा दी थी कि दावत के दिन नगर में कोई भी व्यक्ति ऐसा न रहे जो हमारी दावत में शामिल न हो। उसका आदेश था कि साधु-ब्राह्मणों को खोज-खोज कर सबसे प्रथम भोजन खिलाया जाय, अन्य नगरवासी बाद में भोजन करेंगे। इधर इस गृहस्थ योगी के अनुचर नगर में घूम रहे थे कि उनकी दृष्टि एक तेजस्वी साधु (श्री नारद जी) पर पड़ी। श्री नारद जी को कोई पहचान तो न सका, किन्तु उनके तेजस्वी चेहरे से वे बहुत ही प्रभावित हुए और आगे बढ़कर हाथ जोड़ बड़ी विनय के साथ प्रार्थना करने लगे कि हे स्वामी ! आज समस्त नगर को हमारे स्वामी ने अपने इकलौते पुत्र की शादी हो जाने के उपलक्ष में दावत दी है और उनका आदेश है कि साधु-ब्राह्मणों को सबसे पहले भोजन कराया जाय, इसलिए आप कृपा कर दावत में पधारिये।

यह जानकर कि यह वही व्यक्ति है जिसकी परीक्षा लेनी है। नारदजी ने अनुचरों से कहा-हम तब तक नहीं चल सकते, जब तक तुम्हारे स्वामी स्वयं हमें बुलाने नहीं आवेंगे। अनुचरों ने अपने स्वामी को जाकर यह सब सुनाया तो वह गृहस्थ योगी बड़ी प्रसन्नता से भाव-विभोर हो महात्मा जी के श्री-चरणों में दावत के लिए प्रार्थना करने को स्वयं उपस्थित हो गया।

श्री नारद जी ने गृहस्थ योगी से कहा—हमारे भोजन करने की शर्त यह है कि तुम्हारी पुत्र-वधू विधवा स्त्री का वेश बनाकर भोजन बनावे और तुम्हारा पुत्र हमें बुलाने आवे, तब हम भोजन कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

यह सुनकर गृहस्थ योगी अपने घर लौटा और अपनी धर्मपत्नी से सब हाल सुनाते हुए कहा—यदि महात्मा जी हमारे लिये इस प्रकार का आदेश करते तो कोई परेशानी हमें न थी, किन्तु पुत्र-वधू से ऐसा करने को कैसे कहा जाय ? यदि ऐसा न हुआ तो साधु भोजन नहीं करेंगे जो ठीक नहीं। इस ऊहा-पोह में दोनों पति-पत्नी बड़े चिन्तित थे कि क्या किया जाय ? इन सब बातों को उनकी पुत्र-वधू सुन रही थी। उसने अपने सास-ससुर से प्रार्थना की कि आप परेशान न हों। मैं ऐसा ही भेष बनाकर भोजन बना दूंगी, किन्तु साधु भूखा नहीं जाना चाहिये। इस पर पति-पत्नी दोनों ने अपने को धन्य माना, ईश्वर को धन्यवाद दिया कि हमारी पुत्र-वधू भी प्रभु जी ने हमारे ही संस्कारों की दी है। गृहस्थ योगी की पुत्र-वधू ने विधवा स्त्री का भेष बनाया और भोजन तैयार कर अपने पतिदेव को महात्मा जी (नारद जी) को बुलाने के लिए भेज दिया।

इधर होता यह है कि गृहस्थ योगी का लड़का जब महात्मा जी के पास पहुंचा तो

महात्मा जी ने अपनी योग-माया से एक शेर बनाया और उसको उस लड़के पर हमला कराते हुए दोनों (लड़का व शेर) को मृत पड़े दिखाया। जब गृहस्थ योगी लड़के के माता-पिता ने बहुत देर प्रतीक्षा करने पर भी देखा कि उनका लड़का महात्मा जी को बुलाकर नहीं लाया तो उन्हें चिन्ता हुई और स्वयं महात्माजी के निकट पहुंचा तो उसने देखा कि शेर ने उनके इकलौते पुत्र पर हमला कर उसे मार दिया है! उसने कहा—ईश्वर की ऐसी ही इच्छा होगी। जितना जिसका संस्कार होता है भोग कर चल देता है, इसमें दुःख की कोई बात नहीं, किन्तु केवल थोड़ा दुःख इस बात का है कि मेरे रक्त में इतना विष है कि शेर भी अपनी पूरी भूख न मिटा सका। इसके बाद गृहस्थ योगी आगे बढ़ा अपना परिचय देते हुए महात्माजी से अनुनय विनय करने लगा कि हे महात्मन्! चलो भोजन करलो। इस पर महात्माजी (श्रीनारद जी) ने गृहस्थ योगी से कहा—तुम इस बच्चे के कैसे पिता हो? जो इसकी मृत्यु पर जरा भी तुम्हें शोक नहीं हुआ और फिर यह भोजन तो मृत्यु का भोजन हो गया, मैं कैसे भोजन कर सकता हूँ? इस पर गृहस्थ योगी महात्मा जी से कहने लगे—

'महाराज जी! आपने योग तो लिया, पर योग की रीति नहीं जानी।'

इस पर महात्मा जी ने कहा—आप सिखा दें योग की रीति।

गृहस्थ योगी बोले—महात्मा जी सुनो! दो लड़के मित्र थे, एक लड़का ब्राह्मण था, दूसरा वैश्य। दोनों परम सात्विक एवं प्रभु भक्त थे। उन्होंने आपस में निश्चय किया कि चलो तपस्या करने चलें, क्योंकि जीवन क्षण-भंगुर है। दोनों तपस्या करने किसी नदी के किनारे पहुँचे और वृक्ष की डाली पर उल्टे लटककर तपस्या में लीन हो गये। नदी का पानी इतना ऊपर बढ़ा कि उन दोनों के मुँह तक आ गया और कहीं से एक मुर्दा बहता हुआ आया जो उन दोनों उल्टे लटके तपस्वियों के मुँह से आ टकराया। मुर्दा वहीं अटका रहा। दोनों का ध्यान टूटा तो बुरी दुर्गन्ध से उनका सिर भन्नाया और वे घृणा करते हुए अपनी तपस्या छोड़ चलने लगे, तभी आकाशवाणी हुई कि हे तपस्वियो! जिस वस्तु से तुमने घृणा की है, उसी की खोज में तुम तड़पते फिरोगे। संसार में उपेक्षा तो की जा सकती है, किन्तु घृणा नहीं करनी चाहिये। तपस्वी यह सुनकर बहुत दुःखी हुए और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुए। उन दोनों का जन्म कुतिया के पेट से हुआ। ब्राह्मण भूरे रंग का कुत्ता बना, वैश्य लड़के ने काले कुत्ते के रूप में जन्म पाया।

पूर्व जन्म की तपस्या के फलस्वरूप इन दोनों को पिछला जन्म याद आया और दोनों ने निश्चय किया कि तपस्या करने के लिए चलना चाहिए और वे तपस्या के लिए चल पड़े। रास्ते में उनको बहुत भूख लगी तब इधर-उधर जंगल में भटकते रहे बहुत भटकने के बाद उनको एक सूखी हड्डी

दिखाई दी किन्तु उससे भूख मिटने का प्रश्न नहीं था इस घटना से उनको पूर्व जन्म याद आया और सोचने लगे कि हमने जिस वस्तु से घृणा की थी उसी के लिए अब तड़प रहे हैं इसी लिए संसार में किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए इसके बाद दोनों स्वान आगे बढ़े और एक बस्ती में पहुंचे। भूरा स्वान जो पूर्व जन्म में ब्राह्मण बालक था एक निर्धन ब्राह्मण के घर पहुंचा और भोजन की प्रतीक्षा में बैठ गया। ये ब्राह्मण बहुत ही निर्धन थे किन्तु थे सन्तोष के खजाने। इनके कोई सन्तान न थी किन्तु प्रभु की इच्छा पर निर्भर रहकर परोपकार में लगे रहते थे आज इनको केवल चार रोटी प्राप्त हुई थी किन्तु स्वान को देखकर एक रोटी स्वान को दे दी। किन्तु जब वह न उठा तो दूसरी रोटी भी दे दी इस पर भी जब वह न उठा तो ब्राह्मणी ने भी एक रोटी स्वान को डाली किन्तु स्वान फिर भी रोटी की याचना करते हुए बैठा ही रहा। ब्राह्मणी ने दूसरी रोटी भी स्वान को ही खिला दी और स्वयं दोनों पति-पत्नी केवल जल पीकर ही रह गये। किन्तु मन में एक भारी सन्तोष था कि कम से कम स्वान ने तो पेट भर लिया। हमारी कोई बात नहीं एक दिन की क्या बात है? हम जल पीकर ही गुजारा कर लेंगे। स्वान वहां से चल दिया और अपने मित्र काले स्वान की खोज करने लगा।

इधर काला स्वान भी रोटी की खोज में शहर में घूम रहा था कि उसने देखा एक हलवायी की दुकान पर मिष्ठान के थाल लगे हैं। वह भूख से बेचैन होने के कारण उन मिष्ठान के थालों पर लग गया और मिष्ठान खाने लगा। अभी थोड़ा ही खा पाया था कि हलवायी दुकानदार आ गया और उसने स्वान पर ५ सेर के बाँट से प्रहार किया जिससे स्वान बहुत अधिक जख्मी हो गया और उसकी कमर टूट गई। वह स्वान अपने स्वांस गिन ही रहा था कि इसका मित्र दूसरा स्वान इसकी खोज करते-करते वहीं अपने जख्मी मित्र स्वान के पास आ पहुंचा। इसके पास पहुंचते ही काले जख्मी स्वान ने प्राण त्याग दिये। काले स्वान के मृत्यु शोक में भूरे स्वान ने भी अपने प्राण वहीं त्याग दिये। जिस हलवाई दुकानदार ने स्वान को मारा था उसके यहां कोई सन्तान न थी और न उस ब्राह्मण के कोई सन्तान थी जिसने उस भूरे स्वान को भर पेट भोजन कराया था और स्वयं जल पीकर ही रह गये थे।

परमपिता परमात्मा की कृपानुसार काले स्वान ने अपने कातिल के यहां और भूरे स्वान ने अपने अन्नदाता ब्राह्मण के यहां पुत्र के रूप में जन्म लिया। दोनों मित्र कुछ बड़े होने पर फिर मिले और पुनः दोस्ती का नवीनीकरण हो गया अब दोनों साथ-साथ खेलते दोनों साथ-साथ पढ़ते मित्रता गहरी थी।

उस तपस्या के कारण दोनों मित्रों को स्मरण हुआ कि हमारी यात्रा तो तपस्या

करने के लिए जारी है हमें अब आगे बढ़ना चाहिए किन्तु मन में विचार आया कि अभी हमारा कुछ भुगतान बाकी है उसको निपटाकर तपस्या के लिए शीघ्र चलना चाहिए। अब काले श्वान ने जो अब दुकानदार का पुत्र बना था घर का सब माल धीरे-धीरे अपने उस मित्र को देना आरम्भ कर दिया जो अब ब्राह्मण बालक था। ब्राह्मण बालक उस धनमाल को अपने घर में लाता रहा, जब दुकानदार का सब माल खाली हो गया और ब्राह्मण का घर धन माल से भर गया तो ब्राह्मण बालक ने अपने पिता से कहा पिताजी आपने मुझे पहिचाना है या नहीं ब्राह्मण ने कहा बेटा न पहचानने की कौन सी बात है ? तुम मेरे पुत्र हो और मैं तुम्हारा पिता, बालक ने कहा-नहीं पिताजी बात एक और है, वह यह है कि मैं वही श्वान हूं जिसको आप दोनों ने अपना सारा भोजन देकर मेरी-भूख मिटाई थी और आप स्वयं जल पीकर रह गये थे। पिताजी उन चार रोटियों के कारण आपके यहां मुझे आना पड़ा। उन रोटियों का बदला जो मैं दे-सका दे दिया बस मेरा आपका इतना ही संस्कार था, जीव का जिसका जिससे जितना संस्कार होता है उतना ही वह भोगकर भुगतान कर चलता बनता है।

इसमें दुःख सुख की क्या बात है ? अब मुझे आज्ञा दो मुझे तपस्या करने जाना है और ब्राह्मण का तपस्वी जीवन होना ही चाहिए। इस प्रकार आज्ञा लेकर ब्राह्मण बालक घर से चल दिया।

इधर दुकानदार के लड़के (पिछले जन्म के काले श्वान) ने भी अपने पिता से तीर्थ-यात्रा के लिए कुछ धन मांगा इस पर दुकानदार उसका पिता उस पर बरस पड़ा कि नालायक जब से तू पैदा हुआ है तब से सब धन सम्पत्ति नष्ट हो गयी है। तू बड़ा निरभाग्य है अब यहां धन कहां है जो तुझे दे दूं। इस लड़के को क्रोध आ गया और उसने वही बांट (जिससे दुकानदार ने कुछ समय पूर्व एक श्वान को मारा था) अपने पिता को मार दिया जिससे उसके प्राण वहीं छूट गये। जब सारे समाज ने इस लड़के को बहुत बुरा भला कहा तो इस लड़के ने जवाब दिया क्या आप यह भूल गये हैं कि कुछ वर्ष पूर्व इसने एक श्वान को मारा था। मैं वह श्वान हूं जो पुत्र के रूप में अपने संस्कारों का भुगतान करने आया था। हमारा सबका जीवन संस्कारों का भुगतान ही है, इसके लिए दुःख या सुख की कौन सी बात है, ये बातें चल ही रही थी कि इसका दूसरा मित्र ब्राह्मण बालक भी आ पहुंचा और दोनों तपस्या के लिए आगे बढ़े।

इतनी कहानी सुनाकर गृहस्थ योगी ने महात्माजी (नारदमुनि) से कहा महाराज देखो जिसका जितना संस्कार होता है, वह भोगकर आगे चलता बनता है, इसमें दुःख-सुख की क्या बात है। मेरा और मेरे पुत्र का

इतना ही संस्कार था इसलिए अब दुःख मानने से क्या लाभ है।

यह बात पूरी हुई थी कि गृहस्थ योगी की धर्मपत्नी भी प्रतीक्षा के बाद महात्माजी को बुलाने पहुंच गयी उसने भी अपने पतिदेव की भाँति ही कहा-हे ईश्वर मेरा पुत्र गया है तो कोई बात नहीं इसका इतना ही संस्कार होगा किन्तु दुःख इस बात का है कि मेरे पुत्र में इतना विष है कि शेर भी इस पर हमला करते ही स्वर्ग सिधार गया अपनी भूख भी पूरी तरह मिटा न सका यह कहकर गृहस्थ योगी की धर्म पत्नी आगे बढ़ी और महात्माजी से विनम्र निवेदन किया कि चलिये महात्माजी भोजन कर लीजिए।

महात्माजी ने पूछा, तुम कौन हो?

स्त्री ने उत्तर दिया—मैं इस पुत्र की माता हूं। महात्माजी आश्चर्य से बोले—आप माता हैं? कैसी माता हैं जो अपने इकलौते पुत्र के स्वर्ग सिधारने पर भी दो आँसू तक नहीं बहाये। स्त्री बोली महात्माजी आपने योग तो ले लिया किन्तु योग की रीति न जानी।

जितना जिसका संस्कार होता है वह भोगकर आगे चलता बनता है। महात्माजी बोले-तुम्हारे पतिदेव ने योग की रीति सिखा दी अब तुम सिखा दो।

स्त्री बोली महाराजजी सुनो—एक राजा योगी थे जब उनको सन्तान होती तो वे ध्यान योग से देख लिया करते थे कि इस बच्चे का हमसे क्या संस्कार है और उसके भुगतान का संकल्प कर देते अर्थात् जिस बच्चे का संस्कार केवल राजा से पाने का होता उसके निमित्त वही धन द्रव्य वस्त्रादि संकल्प कर देते और वह प्राण त्याग देता। इस प्रकार उस राजा योगी ने अपने कई बच्चों के भुगतान निपटाये और अन्त में एक पुत्र पैदा हुआ जिसका संस्कार राजा से लेने का बहुत कम देने का अधिक था उस राजा ने उस बच्चे को पाला और योग्य होकर बच्चे ने राजा की आज्ञा पालन करते हुए उसकी बहुत सेवा की।

इस बात को सुनाते हुए स्त्री ने महात्माजी (नारदजी) से कहा—देखो जिसका जितना संस्कार था वह भुगतान हुआ। इसलिए इसमें दुःख सुख की क्या बात है। मेरे पुत्र का भी मेरे साथ इतना ही संस्कार होगा यह संस्कार भोगकर चल बसा इसमें दुःख क्यों माना जाय।

इतनी बातें स्त्री महात्माजी से कर ही रही थी कि प्रतीक्षा के बाद उसकी पुत्र वधू भी महात्माजी को बुलाने चली आई उसने भी देखा कि उसका पति शेर द्वारा हमला करने पर स्वर्ग सिधार गया है। किन्तु वह भी तो अपने सास ससुर के संस्कारों से मेल खाने वाली थी उस देवी ने भी ईश्वर की इच्छा में सन्तोष प्रगट करते हुए कहा—हे ईश्वर जो आप करते हैं वही उचित है मेरा इनका इतना ही संस्कार होगा। देवी आगे बढ़ी और महात्माजी से प्रार्थना की कि हे स्वामीजी चलिए भोजन कर लीजिए, इस पर महात्माजी बोले—हे देवी तुम कौन हो?

देवी ने उत्तर दिया—हे महाराज मैं वही भाग्यशाली स्त्री हूं जिसको आपने विधवा वेष में भोजन बनाने का आदेश दिया था इस पर महात्माजी चौंके और उस देवी से कहा—अरी तू कैसी स्त्री है ? अपने पतिदेव के स्वर्ग सिधारने पर भी दो आँसु न निकाल सकी तू बड़ी कठोर हृदय जान पड़ती है। स्त्री ने उत्तर दिया—महाराज इसमें दुःख सुख की क्या बात है जिसका जितना संस्कार होता है वह भोगकर चल देता है। फिर इसके लिए रोना धोना दुख मानना क्या बुद्धिमानी है मालूम पड़ता है महाराज आपने योग तो ले लिया किन्तु योग की रीति न जानी।

महात्माजी (श्री नारदजी) ने कहा—हे देवी तुम्हारे-सास ससुर ने तो योग की रीति बता दी अब तुम भी बता दो।

उस देवी (गृहस्थ योगी की पुत्रवधू) ने महात्मा जी से कहा, हे महाराज सुनो—

दो राजा आपस में मित्र थे। उन्होंने आपस में यह निश्चय किया था कि यदि हम दोनों के बच्चे पैदा हुए और एक के यहाँ लड़का व दूसरे के घर लड़की, तो उनकी आपस में शादी करेंगे। यदि दोनों के यहाँ लड़का या लड़की पैदा हुए तो दोनों मित्र बने रहेंगे। ईश्वर की कृपा से उनमें से एक के घर पुत्र व दूसरे के घर पुत्री ने जन्म लिया। इन बच्चों के बड़े हो जाने पर इनकी शादी करदी गई, अब इनके जन्म की कहानी इस प्रकार है—

एक राजा के यहाँ जब लड़का पैदा हुआ तो उसकी माँ की मृत्यु हो गई और उसका जन्म दूसरे राजा के यहाँ लड़की के रूप में हुआ। फिर बड़े होने पर इन दोनोंकी आपस में शादी हुई। शादी होकर जब लड़की अपनी ससुराल पहुंच रही थी तो रास्ते में उस राजा के राज्य में ही किसी बाग में विश्राम किया तो लड़की को बाग देखकर पूर्व जन्म की स्मृति आ गई। मैं तो इस लड़के के पूर्व जन्म की माता हूँ, जिनके साथ मेरी शादी हुई है। यह जानकर कि यह लड़का पूर्व जन्म का मेरा पुत्र है, वह पागल-सी हो गई। इस पर लड़के ने तलवार उठा ली और यह विचार करके कि मेरी शादी इस पागल लड़की से हो गई है, वह लड़का उसे जान से मारने लगा। इस पर सारे समाज ने स्त्री पर हाथ न उठाने के लिये उसे समझाया।

लड़के ने अपनी दूसरी शादी करली और उस पहली स्त्री को पागल समझकर अलग महल में रख दिया। इस बात को सुनाती हुई गृहस्थ योगी की पुत्रवधू ने महात्मा जी से कहा—महात्मा जी ! देखो, जिस प्रकार उस स्त्री का धर्म बच गया, हो सकता है कि मेरा भी कोई ऐसा ही संस्कार हो। मेरा भी प्रभु ने धर्म बचाया हो स्वामी जी महाराज ! ईश्वर जो करता है वह ठीक ही करता है। महात्माजी महाराज जितना जिसका संस्कार होता है, वह भोग कर चलता बनता है। इसमें सुख-दुःख मानने की कौनसी बात है।

इस तरह पूरा परिवार महात्मा जी

नाम का अभ्यास करो

❀ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

"मनुष्य का अपना मैला मन और अजित इन्द्रियाँ ही सत्य का दर्शन करने में रुकावट का कारण बनती है। नाम के अभ्यास से जब मन निर्मल होगा और इन्द्रियाँ भी वश में आ जावेंगी, तभी परमेश्वर का दर्शन हो सकेगा और ध्यान सबमें समा जायेगा।"

प्रत्येक मनुष्य सच्ची प्रसन्नता और प्रसन्न जीवन चाहता है, किन्तु सन्मार्ग के न मिलने से वह भटकता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसे जाना किधर होता है और भ्रमवश मनुष्य किसी और ही दिशा में चल पड़ता है। अब आप ही विचार करो कि किसीको जाना तो हो पूर्व की ओर पग बढ़ावे पश्चिम की तरफ तो अपने लक्ष्य स्थान को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? वह तो लक्ष्य से दूर ही होता जावेगा। जबकि मानव का उद्देश्य था कि मैं सच्चा सुख प्राप्त करूं, परन्तु विपरीत चलने के कारण वह आनन्द से दूर से दूरतर होता जायेगा। वह संकटों में ज्यों-ज्यों उलझता जायेगा। ऐसा सुन्दर जन्म पाकर भी यदि जीव ने दुःख क्लेशों से छुटकारा न पाया तो फिर यह काम कब और किस जन्म में करेगा ?

विधि का विधान है कि दूरस्थ देशों के यात्री जब कभी यात्रा में होते हैं तो जहाँ भी मार्ग भूलते हैं वहाँ पर लगे हुए साइन-बोर्ड को पढ़कर वे सही मार्ग पर कदम रखते हैं या किसी जानकार से पता लेने पर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। इसी तरह आत्मिक पथ पर भी चलने वालों को आवश्यक है कि सन्त सत्पुरुषों की वाणी या उनके रचे ग्रन्थ साइन-बोर्ड के समान पथ-प्रदर्शन करते हैं, उनकी सहायता लेकर अब या फिर भी सन्त सत्पुरुष हैं वे इस आत्मिक मार्ग के पूर्णतया ज्ञानी हैं, उनकी आज्ञा और संकेतों पर चलें, यही साधन सही है अपने जीवन लक्ष्य पर पहुंचने का।

सन्तों का 'नाम'से स्नेह है। नाम का निवास सन्तों के हृदय में है। वे सुपरिचित हैं—वही ईश्वर से मिलने की राह बताते हैं। जो भाग्य शाली अपनी अहन्ता को छोड़कर

(श्री नारद जी) को परीक्षा में उत्तीर्ण पाया। श्री नारद जी बहुत प्रसन्न हुए और ईश्वर और उनके परमयोगी भक्तों का गुणगान करने लगे। अपनी योग-माया को हटाया तो देखते हैं कि लड़का जिन्दा खड़ा है और शेर गायब है। इस पर भी गृहस्थ योगी का परिवार ईश्वर-इच्छा जानकर यथा स्थित रहा।

यह स्थिति वह थी जिसके लिए गीता में आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने मुखारविन्द से कहा है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्त-
तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि,
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

उनसे सत्य का मार्ग पूछता है, वे उसे सही मार्ग बतलाते हैं। उनके नेतृत्व के बिना कोई कितना भी जप, तप, व्रत, नियम और तीर्थ इत्यादि करे, किन्तु नाम जो वास्तविक है, उससे उसकी भेंट कदापि न हो सकेगी। यह सन्तों का बताया हुआ नाम ही था, जिसने वाल्मीकि को डाकू से ऋषि बना दिया और उसी नाम ने ही रामरती के कलुषित मन को धोकर पवित्र और उज्वल बना दिया। जहाँ नाम के प्रताप से वे दोनों पहुँच गये, वहाँ तीर्थ, व्रत आदि करने वाले करोड़ों में से एक भी न पहुँच पाया। नाम की सम्पत्ति सन्त सद्गुरु के हाथ में है, जिसे वे अपनी कृपा से प्रदान करें वही समृद्धिशाली हो जाता है। कोई बलपूर्वक वह सम्पदा उनसे छीन नहीं सकता, एक पुराना किस्सा याद आ गया :—

एक दरिद्र प्रेमी एक महात्मा जी की प्रतिदिन सेवा-सुश्रुषा किया करता था। एक दिन महात्मा के पैर वह प्रेमी दबाने लगा। सेवा करते-करते उसे दोपहर हो गई। महात्माजी ने उससे कहा कि प्रेमी ! तुम घर जाकर भोजन करलो। उसने उत्तर दिया कि महात्मा जी ! हम गरीब आदमी हैं—आज घर में खाने-पीने को कुछ भी नहीं है। यहाँ आपकी सेवा में व्यस्त रहने से मुझे भूख-प्यास नहीं सताती, अपितु बड़ा आनन्द आता है, सो घर जाकर क्या करूँगा ?

यह सुनकर महात्मा जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा तो एक बाल उनके हाथ में आ गया, वही बाल उस प्रेमी के हाथ में देकर कहा—जिस पेटी में तुम रुपये-पैसे आदि रखते हो, उसी में इसे डाल देना, तुम्हारी वह सन्दूक कभी खाली न होगी, चाहे उसमें से कितना भी व्यय क्यों न करो ? अच्छा अब तुम घर जाओ।

वह गरीब प्रेमी घर पहुँचा। ज्योंही उस बाल को उसने पेटी में रखा, वह एकदम-रुपये-पैसों से भर गई। चाहे जितनी रकम वह खर्च करता, परन्तु वह पेटी फिर भर जाती। उसकी आर्थिक दशा को सुधरता हुआ देख कर उसके पड़ोसी साहूकार ने एक दिन उससे पूछा कि आजकल तो तुम बड़ा खर्च करते हो ? क्या तुम्हारे कोई गुप्त खजाना हाथ लग गया है ? यह क्या माजरा है ?

उस दरिद्र ने उत्तर दिया कि मेरी निर्धनता तो किसी से छुपी नहीं है, किन्तु सब प्रताप तो उस बाल का है जिसे मुझ पर प्रसन्न होकर अमुक सन्त ने मुझे दिया है। उनकी सेवा-सुश्रुषा करने के लिए मैं हर रोज जाता हूँ। सेठ ने जब यह वृत्तान्त सुना, उस पर लालच का भूत सवार हो गया। बगल में कैंची दबाकर उस महात्मा के पास आया और उनकी चरण-सेवा करने लगा। जब महात्माजी की तनिक आँख लगी उसने तुरन्त ही उनकी सारी दाढ़ी मूंड ली। घरमें जाकर उसने जितनी भी धन-माल की पेटियाँ उसके पास थी सबमें दो-दो चार-चार बाल डाल दिये। कुछ देर बाद जब उसने पेटियों के अन्दर देखा तो एकदम स्तब्ध रह गया।

वहाँ धनैश्वर्य के स्थान पर सबकी-सब पेटियाँ दाढ़ियों से भरी हुई हैं। जो धन-राशि उनमें पहले विद्यमान थी, वह भी ओझल हो चुकी थी। अब वह बहुत रोया और हाथ मल-मलकर पछताने लगा।

सन्त जब नींद से उठे, असली दाढ़ी को साफ देखकर उस प्रेमी को बुलाकर पूछा कि तूने किसी से हमारे बाल देने की बात कही थी? हरि प्रेमी ने सारी बात सच-सच कह सुनाई। महात्मा जी ने उसे परम सन्त श्री कबीरजी की साखी सुनाकर भविष्य के लिए सतर्क किया कि—

दोहा—

कबिरा भेद न दीजिए, यह जग बुरी बलाय।
लिए कतरनी कांख में, करे मित्रता धाय॥

हर किसी को अपने मन का भेद न बताओ क्योंकि प्रत्येक का दिल विमल नहीं होता। उनमें कपट भरा रहता है। इसलिए उलटी उनकी ही हानि होती है। अभी तुमने जिसको यह बात बताई है उसकी बड़ी क्षति हो गई। परलोक को तो वह बिगाड़ ही बैठा, इस लोक में भी धनी से निर्धन बन गया। उसने समझा शायद बालों में ही शक्ति है परन्तु उसे यह विदित न था कि वास्तविक शक्ति सन्तों की मस्ती में होती है।

सत्पुरुषों के कथनानुसार भक्ति का सिद्धान्त यह है कि गुरु महाराज जो आज्ञा करें उसे तन-मन से पूर्ण करो, उनके वचनों को कार्यान्वित करो परन्तु वे जो कुछ करें उसका अनुसरण कदापि मत करो। भाव यह कि उनकी करनी को मत देखो। उनके कहने पर चलो। उदाहरण के रूप में—

कोई रोगी है जिसे डाक्टर ने खान-पान से परहेज बताया है। वह डाक्टर को वही वस्तुएँ खाता हुआ देखकर यदि वैसा ही खाने-पीने का लालच करे तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जायेगा। इसी तरह आत्मिक मार्ग में भी गुरु-आज्ञा के अनुसार चलने में ही भलाई है। साधक को यह सुगम होगी तो केवल उसी साधन से होगी।

स्पष्ट है कि सन्तों की कृपा की तुलना में दुष्प्रवृत्ती के किये हुए करोड़ों धर्म और कर्म, जप-तप आदि भी कोई सत्ता नहीं रखते। जैसे सन्तों की कृपा से दिये हुए एक बाल के सामने बल पूर्वक छीने हुए सैकड़ों बाल भी कुछ लाभ न पहुंचा सके अपितु उलटा हानिकारक सिद्ध हुए। सन्तों के द्वारा प्रदान किये हुए नाम का जो प्रताप है वह दुष्प्रवृत्ति से नाम जपने में कदापि नहीं।

नाम का एक-एक कण मानव को सन्मार्ग दर्शा देता है। मैले मन के मैल को धोकर उसे परिष्कृत कर देता है। चञ्चल और स्वाधीन इन्द्रियों को निश्चल और वशीभूत कर देता है। भिखारी से राजा बना देता है। मनुष्य की हार्दिक कामना पूरी हो जाती है। वस्तुतः वही मनुष्य अपने जन्म का पूरा मूल्य जानता और प्राप्त करता है, जो नाम की कमाई करता है। अन्यथा नाम के बिना तो मनुष्य का एक कौड़ी भी मूल्य नहीं है। तभी श्री गुरु महाराजजी प्रायः कथन किया

करते हैं कि 'यदि कोई लाख दो लाख या करोड़ दो करोड़ की हानि होती तो हम तुम्हें भक्ति करने और नाम जपने के लिए इस तरह कभी विवश न करते परन्तु यहाँ तो अपरिमित हानि है जिसकी तुम्हें कल्पना भी नहीं हो सकती। जिसके मूल्य की कल्पना रुपयों से तो क्या हीरे-जवाहरात के ढेरों से भी नहीं की जा सकती। तुम्हारी इतनी अगणित हानि देखकर हम चुप नहीं रह सकते। हम व्याकुल हो उठते हैं और तुम्हें सावधान करने के लिए हाथ बढ़ाना ही पड़ता है।

सत्य है कि रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी ने सन्तों के सम्बन्ध में जो लिखा है वह सर्वथा सत्य है उनका हृदय माखन से भी कोमल होता है:—

सन्त हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन्ह पर कहा न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुःख द्रवहि सन्त सुपुनीता।।

—श्रीरामचरितमानस उ० का०

सन्तों के हृदय की कवियों ने नवनीत से तुलना की है, वस्तुतः वह माखन से भी मृदुल है। माखन तो तभी पिघलता है जब उसे आँच दिखाई जाय-किन्तु सन्त-सत्पुरुषों का हृदय तो दूसरों को दुःखी देखकर ही पसीज जाता है। उनकी कोमलता का उदाहरण तो विश्व में सुदुर्लभ है। ऐसे दयालु सन्तों की शरण में जाकर जो लोग अपना आत्मिक कार्य कर लेते हैं वे बड़े भाग्यशाली हैं। परन्तु नादान संसारी लोग उसी को भाग्यवान कहते हैं जिसके पास सांसारिक मान प्रतिष्ठा, धन-माल या सन्तान इत्यादि माया के सामान विद्यमान हों। इन पदार्थों को पाकर मनुष्य क्या भाग्यशाली बन जाता है? नितान्त भ्रम है—इन वस्तुओं में कोई नित्य सुख नहीं-आत्मिक प्रसन्नता नहीं है। संसार का ठाट-बाट सब अस्थायी है। विवेकशील लोग इन चीजों पर कभी अभिमान नहीं करते संसार के मद में चूर होकर यादवों ने सन्त दुर्वासाजी से परिहास किया तो उसका परिणाम भीषण निकला।

उपर्युक्त यादव सन्तों पर विश्वास न रख कर उनसे ठगी करने लगे। एक लड़के के पेट पर कपड़ा बाँधा और उससे स्त्रियों का वेष पहना कर दुर्वासा जी के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया—बतलाइये 'ऋषि जी! इस औरत के पेट से लड़के का जन्म होगा या लड़की का?'' ऋषि ने उन्हें सब तरह से उपहास करने से रोका और सन्तोंसे शिष्टता दिखाने की शिक्षा दी। उन्हें मौन होकर लौट जाने को कहा, किन्तु उनके सिर पर तो अहंकार का भूत सवार था, वह कब इन्हें सुमार्ग पर चलने देता। सब लड़कों ने यही कहा कि इतने बड़े ऋषि कहाते हो। क्या इतना भी नहीं बता सकते कि इसके पेट से क्या उत्पन्न होगा? ऋषि के समझाने-बुझाने पर भी जब वे आग्रह पर अड़े रहे तो विवश होकर ऋषि के मुख से निकला कि इससे वह चीज पैदा होगी, जिससे तुम्हारे वंश का नाश हो जायेगा।

परम एकनिष्ठ भक्त—

श्री नामदेव

प्रेषक:—श्री केशव उपाध्याय

विक्रम सम्वत् १३२७ की कार्तिक शुक्ला १ रविवार के दिन सूर्योदय के समय, हैदराबाद शहर के नरसी ब्राह्मणी नामक गाँव में परम ईश्वर भक्त श्री दामा सेठ और श्रीमती गोड़ाई देवी को एक पुत्र-रत्न पैदा हुआ, जो संस्कार से ही भगवत्-भक्त था। नाम संस्कार के समय इसी बालक का नाम नामदेव रखा गया। बालक के सर्व प्रथम गुरु तो उसके माता-पिता ही होते हैं। नामदेवजी के माता-पिता निरन्तर भगवान के नाम और गुणों का वर्णन किया करते थे। पण्ढरपुर के भगवान् श्री विट्ठल की मूर्ति का ध्यान, विट्ठल का नाम, विट्ठल की जय-जयकार और विट्ठल की कृपाओं का श्रवण, मनन और अनवरत चिन्तन से श्री नामदेवजी विट्ठलमय हो गये। नामदेवजी की बाल्य-काल में ही यह दृढ़ श्रद्धा बन गयी थी कि श्री विट्ठल मूर्ति नहीं, चैतन्य हैं; ये सच्चे भगवान हैं। एक समय इनके पिताजी को कार्यवश कहीं बाहर जाना पड़ा। वे जाते समय नामदेव पर भगवान विट्ठल की पूजा का भार सौंप गये। लड़कपन की सरल श्रद्धा से नामदेव पूजा का सामान और नैवेद्य के लिए कटोरी में दूध लेकर श्री विट्ठल भगवान् वान के सामने पहुँचे। सहज श्रद्धा से भग- की पूजा समाप्त कर दूध की कटोरी सामने रखकर उसे पान करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने लगे। परन्तु भगवान् भी बहुत हठीले ठहरे, बालक की सीधी-सादी वाणी पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अपने पिता की तरह श्री नामदेवजी आँखें कुछ देर बन्द करके प्रार्थना करते रहे, फिर उन्होंने जब

यादवों ने जब उस लड़के के पेट पर बँधी हुई पट्टियाँ खोलीं तो एक फौलाद का गोला वहाँ से निकला—उसे देखकर वे सब और भी डर गये। बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद उसे रेती से घिसकर चूर्ण बनाने लगे—"जिससे न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।" परन्तु विधि के आगे किसका बल चलता है। मनुष्य कुछ सोचता है और विधाता कुछ और गुल खिला देता है।

जिस तरह उन्होंने इस फौलादी टुकड़े को घिस कर उसकी रेत समुद्र में फेंकी थी, उस जगह सागर का जल तो सूख गया, उसकी जगह वहाँ पर ऐसी घास पैदा हो गई, जिसके पत्ते खड्ग् की धारा की भाँति बड़े तेज थे। दैववश यादवों को वहाँ आना पड़ा, मस्ती में आकर उन लोगों ने मद्यपान किया। अकस्मात् उनका आपस में विवाद उठ खड़ा हुआ। वे मदोन्मत्त होकर उसी तेज घास से ही एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे, जिससे सभी आहत होकर वहीं ढेर हो गये।

सन्तों का वचन कभी मिथ्या नहीं जा सकता। अतः सन्त सद्गुरु के वचन में परि-पूर्ण विश्वास रखकर उस पर आचरण करना चाहिये, जिससे जीवन का सच्चा लाभ प्राप्त हो सके।

आँखें खोली तो कटोरी में देखा कि ज्यों का त्यों दूध पड़ा हुआ है। इससे उनके मन में कुछ दुःख हुआ। नामदेवजी सोचने लगे कि मुझसे क्या अपराध बन गया है कि नामदेवजी बारम्बार प्रार्थना करने पर भी दूध नहीं पी रहे हैं। अनेक बार की प्रार्थना के बाद भी जब भगवान ने उनका दूध स्वीकार नहीं किया तो उनकी आँखों से अश्रुधारा निकल पड़ी और उन्होंने प्रार्थना की कि—हे विट्ठल भगवान् यदि आप मेरी कटोरी का दूध न पीयेंगे तो याद रखिये, मैं भी जीवन-भर कभी दूध नहीं पीऊँगा। इस बाल-प्रतिज्ञा ने बड़ा काम किया। उसी समय भगवान् को साक्षात् प्रकट होना पड़ा। भगवान् ने उनकी कटोरी का दूध अपने कर-कमलों से पान किया। इस प्रकार नामदेवजी की भगवान् से पूरी जान पहचान हो गयी। अब नामदेवजी, जो कुछ भी भगवान् को अर्पण करते, भगवान् प्रकट होकर उसे ग्रहण करने लगे। इस प्रकार उनकी भक्ति का रंग दिनों दिन गहरा होता गया। अपनी दस वर्ष की अल्पायु में ही वे बाल भगत कहे जाने लगे।

उस समय की प्रथा के अनुसार श्री नामदेवजी का विवाह अल्पायु में ही सेठ गोविन्द दास की पुत्री रजाई के साथ हो गया। उनके पिताजी, माताजी और उनकी धर्मपत्नी उनको व्यापार धन्धा के कार्य में लगाना चाहते थे, परन्तु श्री नामदेवजी का मन गृहस्थी के कार्यों में नहीं लगता था, अतः वे अपना पैतृक गाँव छोड़कर भगवान् विट्ठल के गाँव पण्ढरपुर को चले गये। उन्होंने किम्वदन्तियों के द्वारा यह सुन रखा था कि पण्ढरपुर क्षेत्र, भगवान् श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र पर बसा हुआ है। जो लोग हरिबोधिनी एकादशी और हरिशयनी के दिन भगवान् विट्ठल का दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं, त्रिकालेश्वर भगवान् चक्रपाणि अपने मन्दिर की ईंट पर खड़े होकर उनकी बाट देखा करते हैं। उनका रूप मधुर है, उनका नाम मधुर है, उनकी मुस्कान मधुर है और अन्त में उनका सब कुछ मधुर ही मधुर है। इन सब बातों का नामदेवजी के जीवन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा। भगवान् विट्ठल के लिए उनके हृदय में अनन्य प्रेम-भाव पैदा हो गया। एक बार नामदेवजी ने भगवान् विट्ठल की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हे प्रभो! आपके प्रेम से मैं स्वयं आपकी नगरी में खिंच आया हूँ। मेरा और आपका सम्बन्ध शरीर और आत्मा जैसा है। मगर ये दोनों तो आप ही हैं। इस प्रेम प्रार्थना में एक रहस्य छिपा हुआ है, और वह यह कि नामदेवजी का भक्ति के साथ अद्वैत ज्ञान पर भी पूरा अधिकार था।

एक बार योगिराज श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज की इच्छा हुई कि मैं भक्त नामदेव के साथ तीर्थयात्रा करूँ। उन्होंने अपनी यह इच्छा नामदेव के सामने प्रकट की। श्रीनामदेवजी ने उनसे निवेदन किया कि यदि भगवान् विट्ठल की आज्ञा मिल जाय तो मैं

आपके साथ तीर्थ यात्रा पर चल सकता है। श्री ज्ञानेश्वरजी ने ध्यान समाधि के द्वारा भगवान् विट्ठल से यह अपनी बात निवेदन की। योगिराज श्री ज्ञानेश्वरजी ने ध्यान-समाधि में तथा श्री नामदेवजी ने योग निद्रा में यह देखा कि भक्त-वत्सल विट्ठल नामदेव की प्रशंसा करते हुए ज्ञानेश्वरजी से कह रहे हैं कि "नामदेव मेरा बड़ा ही लाड़ला बच्चा है। मैं क्षण भर भी इससे दूर नहीं रहना चाहता। तुम चाहते हो तो इसे ले जा सकते हो, परन्तु इसकी सँभाल करना।" इतना कहकर भगवान विट्ठल ने नामदेवजी का हाथ योगिराज ज्ञानेश्वरजी को पकड़ा दिया। नामदेवजी के साथ ज्ञानेश्वरजी का मिलन वैसा ही था, जैसा एकान्तिक भक्त के साथ सर्वव्यापी ज्ञान का मिलन। नामदेवजी ने श्री ज्ञानेश्वरजी के साथ भगवत् चर्चा करते हुए तीर्थयात्रा आरम्भ की। तीर्थयात्रा के दौरान श्री नामदेवजी कभी-कभी कहते, हे पाण्डुरङ्ग! तुम्हारे वियोग से मेरा हृदय फटा जा रहा है। मुझे बड़ा उद्वेग हो रहा है। मेरे तो तीर्थ, व्रत, धर्म-अधर्म सब कुछ आप ही हैं। श्री ज्ञानेश्वरजी महाराज श्री नामदेवजी को अनेक प्रकार से सान्त्वना देते और कहते कि "तुम धन्य हो जो प्रभु का ऐसा प्रेम तुम्हें प्राप्त हुआ है।" तुम व्यर्थ शोक क्यों करते हो। भगवान् सर्वव्यापी हैं। श्री नामदेवजी उनसे कहते, "आपका कहना यथार्थ है, परन्तु मुझे तो पुण्डलीक के पास खड़े पाण्डुरङ्ग को देखे बिना चैन ही नहीं पड़ता। उनके इस अनन्य-भाव को देखकर ज्ञानेश्वरजी बड़े ही प्रसन्न होते थे।

इस तीर्थयात्रा में ही एक समय श्रीज्ञानेश्वरजी ने श्री नामदेवजी से पूछा कि, "भजन किस प्रकार करना चाहिये, मन-बुद्धि को सात्विक कैसे बनाया जा सकता है। भक्ति और ध्यान क्या है?" इन प्रश्नों को सुनकर विनय की मूर्ति श्री नामदेवजी ने ज्ञानेश्वरजी से हाथ जोड़कर निवेदन किया कि "महाराज! मुझे तो पाण्डुरङ्ग की कृपा का ही सहारा है। आप जैसा ज्ञान हमारे भाग्य में कहाँ? न मुझमें ज्ञान है और न मैं बहुश्रुत हूं। इसीलिए तो भगवान् ने मुझे आपके हाथों सौंपा है। आपका प्रश्न करना तो ऐसा है जैसा कल्पवृक्ष का किसी भिक्षुक से याचना करना, अथवा कामधेनु का किसी दरिद्र के सामने दैन्य प्रकट करना। मालूम होता है आप विनोद से ऐसे प्रश्न पूछकर मेरा सुख बढ़ाना चाहते हैं।" उनका यह निवेदन सुनकर ज्ञानेश्वरजी ने निवेदन किया, "नहीं, नहीं, मैं आपके मुख से अनुभूत साधन सुनना चाहता हूँ। आप तो भगवान् के प्रेम-भण्डारी हो। आपकी भक्ति रसपूर्ण बातों को सुनने के लिए मेरे कान उत्सुक हो गये हैं। अतः मेरा निवेदन स्वीकार करके आप अपना अनुभव अवश्य बतलायें।" श्री नामदेवजी ने बतलाना आरम्भ किया कि, मैं क्या बतलाऊं, मुझे तो भगवान् का अनन्य चिन्तन, उनका नाम-संकीर्तन और उनके

यशगान का वर्णन ही अत्यन्त प्रिय लगता है। यही मेरा भजन है। गुण-दोषों को न देखकर सभी के साथ नम्रता का व्यवहार करना ही हमारा वन्दन है। सर्व भाव से एकमात्र विट्ठल का ही ध्यान, सब भूतों में उन्हीं के स्वरूप का अवलोकन; रज और तम से दूर रहकर, सबसे आसक्ति हटाकर केवल प्रभु-प्रेम-सुधा का पान करना ही हमारी भक्ति है। इन वचनों को भी परम उदार, सर्वज्ञ मेरे विट्ठल ने ही मुझसे आपके समक्ष कहला दिया है। श्री नामदेवजी के इस निवेदन को सुनकर श्री ज्ञानेश्वरजी ध्यानस्थ हो गये। पुन: अपनी सहजावस्था में आने पर श्री ज्ञानेश्वरजी ने कहा कि नामदेवजी ! आप धन्य हैं। इस प्रकार दोनों आध्यात्मिक पुरुषों ने अपनी तीर्थयात्रा परम आनन्द के साथ समाप्त की। तीर्थयात्रा की समाप्ति पर जब श्री नामदेवजी अपने पण्ढरपुर के भगवान विट्ठल के सम्मुख उपस्थित हुए तो उन्होंने साष्टांग प्रणाम करते हुए निवेदन किया कि हे प्रभो ! आपने बड़ी ही कृपा की। आपने प्रत्येक तीर्थ हमारे लिये पण्ढरपुर बना दिया और स्मरण करते ही आपने हमें साक्षात् दर्शन दिया।

श्री नामदेवजी, कितने उच्चकोटि के ईश्वरानुरागी थे, यह उनके और ज्ञानेश्वरजी के वार्तालाप से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानेश्वरजी की समाधि के बाद वे फिर एक बार भक्ति का प्रसार और प्रचार करने उत्तर भारत की तीर्थयात्रा पर गये थे।

ईश्वर प्रेम की प्रबलता, भक्ति भावना की तीव्रता और सर्वस्व अर्पण, इसी में आत्म निवेदन की परिपूर्णता है। जाग्रत-स्वप्नादि सर्व अवस्थाओं में भगवान् के अलावा, कुछ भी प्रिय न लगना, 'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' इस उक्ति के अनुसार भगवान् के गुणानुवाद में ही निमग्न रहना और शरीर वाणी सहित मन का भगवत्प्रेम में घुल जाना ही भक्ति है। इस प्रकार का दुर्लभ प्रेम भगवान् की कृपा से ही मिलता है। अभ्यास करके मनुष्य इसे नहीं प्राप्त कर सकता। भगवान् की कृपा से ही एकमात्र भगवान् में प्रियतम भाव उत्पन्न होता है। भगवान् ने उस महात्मा भक्त को अत्यन्त ही दुर्लभ बतलाया है जो सर्वत्र सबमें भगवान् को ही देखता है। वास्तव में वही मनुष्य धन्य है, जो सर्वत्र भगवत् दर्शन करता है। श्री नामदेवजी में सर्वत्र भगवद्दर्शन की इच्छा व निष्ठा बहुत ही अच्छी प्रकार प्रकट थी। वे जहाँ कहीं भी रहते, जिस किसी चीज को भी देखते, उनको भगवान् के सिवा अन्य कुछ भी नहीं दिखाई देता।

श्री नामदेवजी की आयु का पूर्वार्द्ध पण्ढरपुर में तथा उत्तरार्द्ध पंजाब आदि प्रांतों में भक्ति का प्रचार और प्रसार करने में व्यतीत हुआ। अनेक लोगों को आध्यात्मिक पथ का पथिक बनाकर वि० सं० १४०७ में ८० (अस्सी) वर्ष की अवस्था में आपने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर परलोक प्रस्थान किया।

प्रसादे सर्व दुःखानाम्

श्री कृष्णदत्त भट्ट

मन की प्रसन्नता से मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है और जब चित्त प्रसन्न होता है, तो उसे स्थित-प्रज्ञता भी प्राप्त हो जाती है। यानी उसकी बुद्धि ऋतम्भरा-प्रज्ञा का पद प्राप्त कर लेती है।

× × × ×

यहाँ मैं एक बात साफ कर दूँ और वह यह कि हर समय प्रसन्न रहने के लिये हर घड़ी मुस्कराने के लिए, सुख-दुःख को एक तुला पर तोलने के लिए जबर्दस्त साधना करनी पड़ेगी—सो भी दीर्घकाल तक।

× × × ×

घड़ी भर तो सभी मुस्करा सकते है, घण्टे आध-घण्टे तो सभी हँस सकते है, पर हर समय मुस्कराना बहुत बड़ी बात है। कारण—

वे लोग हमेशा मुस्कराते रह ही नहीं सकते—
जिनका दृष्टिकोण ओछा है,
जिनका जीवन घृणा से दूषित है।
जिनका मन ईर्ष्या और लोभ से कलुषित है।

× × × ×

वह व्यक्ति भी सदा मुस्कराता नहीं रह सकता—
जिसे अपने महत्व का झूठा घमण्ड है,
जिसे अपनी शान का, अपने ओहदे का गर्व है,
जिसे अपनी रहन-सहन, अपने ठाट-बाट का गुमान है,
जिसे अपनी प्रतिष्ठा का अहंकार है,
जो अपनी थोथी धारणाओं को पकड़े बैठा है,
जो अपने को बुद्धिमानों का सरताज समझता है।
जो दूसरों से कुछ सीखना ही नहीं चाहता,
जो अनुभव की पाठशाला से सबक लेना ही नहीं चाहता,
जो अपनी बेवकूफियों पर खुलकर हँसता नहीं।

याद रखिये, चित्त की वही प्रसन्नता सच्ची प्रसन्नता है, जिसमें ग्लानि और पश्चात्ताप, क्षोभ और दुःख होता ही नहीं। न शुरू में, न बीच में, न बाद में, न पहले, न पीछे।

× × × ×

जिस काम के करने में जी झिझकता है, मन अशान्त हो उठता है, चित्त चंचल हो उठता है, भयभीत होने लगता है, हृदय में क्षोभ उत्पन्न होता है—उसे छोड़ दीजिए, उससे किनाराकशी कर लीजिये। बस बेड़ा पार है।

'हर आन हंसी, हर आन खुशी' का मूलमन्त्र यही है।

हर घड़ी मुस्कराने की तरकीब यही है।

हर समय मस्त रहने का नुस्खा यही है।

× × × ×

आजमाइये भी तो इस नुस्खे को। फिर देखिये इसका असर।

सच मानिये, आपका सारा दुःख, सारा दैन्य, सारी चिन्ता, सारा असन्तोष, सारा हाहाकार—सदा के लिए जाता रहेगा। जगत् का झंझावात फिर आपको पल-भर के लिए भी विचलित न कर सकेगा।

आपके चेहरे पर सर्वदा शान्ति ही विराजेगी। आनन्द ही बरसेगा। फिर स्थितप्रज्ञ होते क्या देर है ?

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योप जायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

—० ज्योति तेरी जलती है ०—

रोगों को मिटावे दुःख विपदा घटावे तू ही,
तेरे ही प्रताप से धरित्री टिकी रहती है।
वन्ध्या को बालक और अन्धन को आंख देत,
अष्ट सिद्ध नवो निद्धि संग लगी रहती है ॥
तू ही है अनादि नित्य अविचल अविकारी देव,
तेरे हीं प्रभाव से यह सृष्टि सब चलती है।
धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थों का,
स्वामी एक तू ही सूर्य ! ज्योति तेरी जलती है ॥

काय कर्म है, दुःख का हेतु दुःख विपाक (=भोग) देने वाला है ? यदि तू राहुल ! प्रत्य-वेक्षा (देखभाल, विचार) कर ऐसा जाने—जो मैं यह काया से काम करना चाहता हूँ, यह बुरा काय कर्म है।' ऐसा राहुल ! काय कर्म सर्वथा न करना चाहिये। यदि तू राहुल ! प्रत्यवेक्षा कर ऐसा समझे कि यह काय कर्म न अपने लिए पीड़ादायक हो सकता है, न पर के लिए यह कुशल (अच्छा) काय कर्म है, सुख का हेतु (=सुख-विपाक) है, इस प्रकार का कर्म राहुल ! तुझे काया से करना चाहिए। इस प्रकार के कर्म को राहुल बार-बार करना।

'यदि राहुल ! तू वचन से काम करना चाहे, कुशल वचन कर्म करना। बार-बार करना।

'यदि तू राहुल ! मन से काम करना चाहे। कुशल मन कर्म करना। बार-बार करना। मन कर्म अकुशल है, तो इस प्रकार के मन कर्म में खिन्न होना चाहिए, शोक करना चाहिए, घृणा करनी चाहिए। खिन्न हो, शोक कर, आगे को संयम करना चाहिए। यह मन कर्म कुशल है, उससे तू प्रमोद से विहार करेगा।

'राहुल ! तुझे सीखना चाहिए कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय कर्म, वचन कर्म, मन कर्म परिशोधन करूँगा।'

भगवान् बुद्ध के अनुसार—

काय सुचरित है—अहिंसा, अस्तेय, अव्यभिचार।

वाक्-सुचरित है—सत्य, मीठा वचन, चुगली न करना, बकवाद न करना।

मन सुचरित है—अलोभ, अद्रोह, सम्यक्-दृष्टि।

× × × ×

पर, यहाँ हमें एक बात और समझ रखनी है।

चित्त का राजी होना और चित्त का प्रसन्न होना, दोनों दो बातें है।

अनासक्ति योग में गांधी जी ने ठीक ही कहा है—"आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है, यह ध्यान में रखना चाहिए। धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूँ—यह मोह है, मैं भिखारी होऊँ, खाने का दुःख हो, फिर भी मेरे चोरी या किन्हीं दूसरे प्रलोभनों में न पड़ने में जो बात मौजूद है, वह मुझे आनन्द देती है और वह आत्म-सन्तोष है।"

किसी की चीज को हम बिना अधिकार के, बिना अनुमति के, बिना मेहनत के ले लें, मुफ्त में किसी का माल हड़प लें और कहें कि इसमें हमारा चित्त राजी होता है, तो यह गलत है। ऐसी सम्पत्ति के लिए मोह में पड़कर हमारा चित्त राजी हो जाय, तो तुरन्त ही उसे इसके लिए पछताना पड़ेगा। विवेक जाग्रत होते ही, आँख खुलते ही वह अपने आपको धिक्कारने लगेगा—"छिः छिः, मैंने यह क्या किया !"

जब हम शरीर-सेवा को ही जीवन का ध्येय मान बैठते हैं।

जब हम अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं गिनते।

जब हम अपने ही मनोनुकूल सारी दुनिया को घुमाना चाहते हैं।

जब हम अहंकार में डूबकर विवेक छोड़ बैठते हैं।

जब हम कुछ काम नहीं करते, सिर्फ आलस में ही पड़े रहते हैं।

जब हम इतना काम करते हैं कि शरीर थककर चूर हो जाता है।

जब हम पेट को ठूँस-ठूँसकर भर लेते हैं।

जब हम छोटी बातों को बहुत महत्त्व देने लगते हैं।

जब हम आत्मा को भूलकर संसार को ही सब कुछ मानने लगते हैं।

× × × ×

इन बातों से हम छुटकारा पा लें, बस मस्ती ही मस्ती है।

× × × ×

आप कहेंगे कि इसमें तो सारा आचार शास्त्र, सारा धर्म शास्त्र आ जाता है।

इन सब बातों को तो करना बहुत मुश्किल है।

आप घबड़ाइये नहीं। हर समय हँसने-मुस्कराने, हर घड़ी मस्त रहने के लिए एक सीधा-साधा नुस्खा भी है।

और वह यह कि कोई भी बात सोचो, कोई भी बात बोलो, कोई भी काम करो, उससे पहले यह विचार करके देख लो कि इससे मेरा चित्त प्रसन्न रहेगा? इससे मेरा मन शान्त रहेगा? इससे मुझे आत्म सन्तोष होगा?

जिससे चित्त प्रसन्न रहे, वही सोचो, वही बोलो, वही करो।

× × × ×

भगवान् बुद्ध का यह प्रसंग हमें सदा याद रखना चाहिए—

'राहुल दर्पण किस काम के लिए है?'

'भन्ते! देखने के लिए।'

ऐसे ही राहुल! देख-देखकर काया से काम करना चाहिए। देख-देखकर वचन से काम करना चाहिए। देख-देखकर मन से काम करना चाहिए।

'जब राहुल! तू काया से (कोई) काम करना चाहे, तो तुझे काया के काम पर विचार करना चाहिए—मैं जो यह काम करना चाहता हूँ, यह मेरा कार्य कर्म अपने लिए पीड़ादायक तो नहीं हो सकता? दूसरे के लिए पीड़ादायक तो नहीं हो सकता? (अपने और पराये) दोनों के लिए पीड़ादायक तो नहीं हो सकता? यह अकुशल दुःख

मतलब ?

हरदम हँसने के लिए, हरदम मुस्कराने के लिए,जीवन का दृष्टिकोण ही बदलना पड़ेगा।

इसके लिए हृदय को ऊँचा उठाना पड़ेगा, उदार बनना पड़ेगा।

मन को निष्कलुष बनाना पड़ेगा।

लोभ और ईर्ष्या से छुटकारा लेना पड़ेगा।

बैर और घृणा को बोद बहाना पड़ेगा।

अपनी झूठी शान को मिटाना पड़ेगा।

मद और मत्सर से, अहंकार और दकियानूसीपन से, किनाराकशी कर लेनी पड़ेगी।

× × × ×

सोचने की बात है कि हमारी मस्ती कब हमारा साथ छोड़ देती है ? हमारी शान्ति कब फिसलने लगती है ? हमारी प्रसन्नता कब किनाराकशी करने लगती है ? दुःख के बादल हमें कब घेरने लगते हैं ?

जब हम किसी का दिल दुखाते है, किसी का अपमान करते है।

जब हम झूठ बोलते हैं। गलत को सही और सही को गलत बताते है।

जब हम कड़वी बात ज़ुबान से निकालते हैं।

जब हम किसी की निन्दा करते है। किसी को गाली देते है।

किसी पर व्यंग्य कसते है।

जब हम व्यर्थ का वाद-विवाद करते हैं।

समय की हत्या करते हैं।

जब हम चोरी करते हैं मुफ्त में किसी की चीज हड़पते हैं।

जब हम किसी से घृणा करते है, किसी से द्वेष करते है।

जब हम दुर्व्यसनों में फँस जाते हैं।

जब हम दुराचार की कोई बात सोचते या करते है।

जब हम अन्धे होकर इन्द्रियों के इशारे पर नाचते हैं।

जब हम क्रोध में जलने लगते हैं।

जब हम मोह में बावले हो उठते है।

जब हम प्रलोभन के आगे घुटने टेक देते है।

जब हम धन-दौलत को ही प्रसन्नता का एकमात्र आधार मान बैठते है।

जब हम भयभीत हो उठते हैं।

भगवान भास्कर और उनकी रश्मियाँ

❀ श्री शंकरलालजी गौड, शास्त्री

मनीषियों का कथन है कि सूर्य प्रकाश से रोगोत्पादक कृमियों का नाश होता है। जिस प्रकार वात-चिकित्सा का विधान शास्त्रों में वर्णित है, उसी प्रकार अथवा इससे कहीं अधिक सूर्य चिकित्सा का विधान है। वायु चिकित्सा सूर्य-चिकित्सा से ही सफल होती है। यदि प्रकाश न हो और इन प्रत्यक्ष देव की किरण विश्व में प्रसारित न हों तो जीव जीवित नहीं रह सकते। उपनिषद् का वचन है—'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते' (प्र०उ० १६) सूर्य जब उदय होते हैं तो सभी दिशाओं में उनकी किरणों द्वारा प्राण रखा जाता है अर्थात्—सूर्य प्रकाश ही वायु मण्डल को शुद्ध करता है। सूर्य की किरणों के बिना प्राण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वेदों में आयु, बल और आरोग्यादि वर्णन के साथ सूर्य का विशेष सम्बन्ध है। शीतकाल में शीत निवारण के लिए सूर्य की ओर पीठ कर उनकी रश्मियों का सेवन करके आनन्द लेना चाहिए। जैसाकि प्राकृतिक चिकित्सा की विधि गोस्वामीजी अपनी विशुद्ध भावनाओं में प्रकट करते हैं। यथा—

भानु पीठि सेइअ उर आगी। (मानस)

प्रायः हमने देखा है कि बहुत से लोग अन्धकार युक्त स्थानों अर्थात्—अन्धकार युक्त (अन्धतामिस्र) नरक में जीवन निर्वाह करते हैं। जहाँ भगवान् सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती वहाँ शीतकाल में शीत तो बना ही रहता है साथ ही वहाँ के प्राणी भयंकर रोगों के शिकार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—गठिया, गृध्रसी, स्नायुरोग और पक्षाघात आदि। ऐसे लोग वैद्य, डाक्टर तथा हकीमों की शरण में जाकर भी अपना शारीरिक रोग निवारण नहीं कर पाते। सूर्य का प्रकाश दुर्गन्ध को दूर करने वाली वायु को शुद्ध कर देता है। तभी तो गोस्वामीजी लिखते हैं—'भानु कृसानु सर्व रस खाहीं' विशेष—'प्राणोवै वात:' सूर्य की किरणें रोग रूपी राक्षसों का विनाश करती हैं। 'सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहर्ता।' सूर्य प्रकाश से रोगोत्पादक कृमियों का नाश होता है। यथा—

उत् पुरस्तात् सूर्य एति
विश्व दृष्टो अदृष्टहवा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च
क्रिमीन् जम्भयामसि॥

(अथर्व ५/२३/६)

सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है तथा पश्चिम दिशा में अस्त होता है एवं वह अपनी किरणों द्वारा सभी दिखने तथा न दिखने वाले कृमियों का नाश करता है। इन कृमियों का स्वरूप वर्णन वेद में इस प्रकार आता है।

शृणाम्यस्य पृष्ठीरपि
वृश्चामि यच्छिरः ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं
यस्ते विषधानः ॥
(अथर्व २/३२/२६)

शरीर में विद्यमान वाले विभिन्न प्रकार के कृमि भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं उनका हनन भगवान् सूर्य के प्रकाश से ही होता है। अब सूर्य के प्रकाश धूप तथा किरणों का सेवन प्रत्येक ऋतु में आवश्यक है। इसे हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से बतलाते हैं। भारतीय विद्वानों ने बसन्त ऋतु को ऋतु राज की संज्ञा दी है। इसमें चैत-वैशाख मास आते हैं। इस ऋतु में प्रातः और सायं काल घूमना हितकर बतलाया है। यथा—'बसन्ते भ्रमणं पथ्यम्' तथापि मध्याह्न समय में घूमना श्रेष्ठ नहीं है। प्रत्युत इससे ज्वर, माता, मोतीझला, खसरा आदि रोगों का प्रादुर्भाव भी सम्भव है। ग्रीष्म ऋतु में भगवान् भास्कर अत्यन्त तीक्ष्ण किरणें फेंकते हैं इससे कफ क्षीण होकर वायु बढ़ती है। इसलिए इस ऋतु में नमकीन तीक्ष्ण, कटु पदार्थ का भोजन व्यायाम और धूप का त्याग करना हितकर होता है। मधुर, अम्ल, स्निग्ध एवं शीतल द्रव्य भोजन करें। ठण्डे जल से स्नान एवं अङ्गों का सिंचन कर शक्कर युक्त सत्तू का प्रयोग करें। मद्य न पीयें बेला की माला धारण करनी चाहिये। सफेद चन्दन को घिसकर लगाना चाहिए। इससे शिरो रक्त एवं दाह शान्त होते हैं एक धर्म-शास्त्रीय वचन भी है, यथा—

चन्दनस्य महत् पुण्यं
सर्व पाप प्रणाशनम्।
आपदं हरते नित्यं
लक्ष्मीस्तिष्ठतु सर्वदा॥

आपदा का अन्धकार का भाव मस्तिष्क दाह तथा ऐहलौकिक एवं पारलौकिक विपत्तियों के नाश से है। वर्षा ऋतु में अग्नि के मन्द होने से क्षुधा का ह्रास होता है 'वर्षास्वग्न्यबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः" वर्षा ऋतु में जठराग्नि का दुर्बल हो जाना सम्भव है, जिससे वात आदि रोग उत्पन्न होते हैं। वास्तव में मल तथा अग्नि का दूषित होना ही रोगोपद्रव का प्रमुख कारण है। आमाशयस्य कायाग्नेर्दौर्बल्यादपि पाचितः" आमाशय की खराबी से मन्दाग्नि हो जाती है। इसलिए अग्नि प्रदीप्त करने वाली व्रतोपवास प्राकृतिक चिकित्सा करनी चाहिए। इस ऋतु में धुले हुए शुद्ध वस्त्र पहिनने चाहिए। ऋतुओं में सबसे खराब वर्षा ऋतु होती है। इसमें धूप सेवन थोड़ी देर तक ही करनी चाहिये। शरद् ऋतु में वास्तव में सूर्य-चिकित्सा का विधान भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। इस ऋतु में पित्त कुपित रहता है, इसलिए भूख अच्छी नहीं लगती है। शीतल मधुर, तिक्त, रक्त पित्त को शमन करने वाला अन्न एवं जल का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये। साठी और गेहूँ का

सेवन करना ठीक है। विरेचन भी लेना चाहिए। दिवाशयन और पूर्वी वायु का सेवन त्याग देना चाहिए। इस ऋतु में दिन में सूर्य की किरणों से तप्त और रात्रि-किरणों द्वारा शीतल अगस्त्य नक्षत्र के उदित होने से जल निर्मल और पवित्र हो जाता है। इस जल को हंसोदक कहते हैं। यह स्नान, पान और अवगाहन में अमृत के समान होता है। इस प्रकार ऋतुओं में होने वाले भयङ्कर रोगों से हम सूर्य की कृपा से बच सकते हैं। तभी तो कहा है—

"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्।" भगवान् सूर्य की किरणें निःसन्देह शुद्ध करने वाली हैं—"एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः" "The rayr of sun are certifying." सूर्य ही विनाशक राक्षसों का नाश करने वाला है। अर्थात् जो राक्षस रूप भयङ्कर रोग है, उनका विनाश होता है—"For the sun is the speller of the evil sprits and the sickness." सूर्यके प्रकाश से रोगोत्पादक जन्तु मर जाते हैं। ऐसा ही सामवेद में निर्देश है—

वेत्थाहिनिर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्।
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥

सूर्य! प्रतिदिन राक्षसों को वर्जन को अवश्य जानते हो। अर्थात् सूर्य रोगरूपी राक्षसों के विनाशक हैं। सूर्य दीर्घायुष्य देने वाले परमात्मा हैं, यथा—

तु चे तुनाय तत्सुनोद्राघीय आयुर्जीवसे।
आदित्यासः सु महसः कृणोतन ॥

—सामवेद

सूर्य व प्रकाश द्वारा कीटाणु मर जाते हैं। इस विषय में अथर्ववेद प्रमाण प्रत्यक्ष है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु,
निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥

—अथर्ववेद २/३२/१

अर्थात् सूर्य किरणों से छिपे हुए रोग-जन्तु भी नष्ट हो जाते हैं।

❀ अनमोल-बोल ❀

❀ मौन के वृक्ष पर शान्ति का फल लगता है। —महाप्रभु रामलाल

❀ अग्नि सोने को परखती है मुसीबत वीर पुरुषों को। —सेने को

❀ किसी की मेहरबानी माँगना अपनी आजादी बेचना है। —महात्मा गाँधी

❀ अपकीर्ति ही मृत्यु है। —श्रीकृष्ण

❀ प्रत्येक व्यक्ति एक महान ग्रन्थ है, यदि आप उसे पढ़ना जानते हैं। —चेनिंग

❀ ध्यान मस्तिष्क का वह श्रम है, जिसके द्वारा वह तथ्यों का दर्शन कर पाता है। —एक योगी

❀ महान कार्यों के लिए पहली वस्तु है आत्म-विश्वास। —जान्सन

विराट् भूमिका में सामाजिक चेतना

✽ डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र

[आरती क्या है, इसका महत्त्व क्या है, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में इसका कितना और कैसा योगदान रहता है, ब्रह्माण्ड में स्थित सभी देवता किस उद्देश्य से किसकी आरती करने में सतत् गतिशील बने रहते हैं, आदि जिज्ञासाओं का सफल समाधान खोजने का सत्प्रयास किया है, विद्वान् लेखक ने अपने प्रस्तुत लेखमें। 'सिद्ध-योग' के पाठक निश्चय ही इस लेखसे एक नूतन दिशा-बोध प्राप्त करेंगे। —सं० स०]

वास्तव में 'महाकाश' रूप (विष्णु या व्याप्ति) ही 'घटाकाश' (हृदय या व्यक्ति सन्निवेश) में प्रतिबिम्बित होता है और पुनः वही चिदाकाश (चेतना या भावन) में अभिव्यक्ति पाता है। इस परिधि को स्पर्श करके बोध को गतिमान बनाये रखने वाला यह श्लोक 'प्राण' को निरन्तर आरती के रूप में अनुभव किया जा सकता है—

घटाकाश गुप्तं महाकाश रूपं,
चिदाकाश व्यक्तं गुरुदेव नमामि।

वैसे 'आरती' शब्द संस्कृत के 'आरात्रिक' अथवा 'आरात्रिक' तथा प्राकृत के 'आरात्तिय' रूपमें पल्लवित होता हुआ हिन्दी के 'आरती' शब्द के रूप में पुष्पित हुआ है। यह शब्द संस्कृत के 'आर्त्त' विशेषण से भी विकसित हुआ माना जा सकता है। पर्याय रूप में संस्कृत का 'नीराजन' शब्द भी प्रयोग में आता है। आज हर देवता की, हर प्रसंग की 'आरतियाँ' समाज-व्यवहार में प्रचलित हैं। उनमें से एक "ओ३म् जय जगदीश हरे" आरती वर्तमान भारतीय आस्तिक समाज की आस्थाशील सामूहिक चेतना की उपलब्धि के रूप में स्वीकार की जाती है। इस आरती का रचना-विधान लगभग १०० वर्ष पूर्व हुआ था। इसका प्रचार पंजाब में आर्य-समाज के प्रकर्ष के कारण, सनातन धर्म की भावना को और अधिक संगठित करने एवं उभारने के लिए सनातन आस्तिकता के धनी श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा किया गया था। किन्तु 'आरती' के इतिहास-विकास में जब हम 'सुख सम्पति घर आवै, कष्ट मिटे तन का' के रूप में प्रार्थना की फलश्रुति को देखते हैं तो लगता है कि 'आरत' (आर्त), अपने को 'कुमति' मानने वाला 'पाप मिटाकर' भौतिक सुख-समृद्धि के घर में ही लौटकर सीमित बने रह जाने की कामना से आगे नहीं बढ़ पा रहा है। जबकि आरती अपने विकास के इतिहास में, व्यापक परिप्रेक्ष्य में, देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई सामाजिक चेतना को 'व्यक्ति' से 'समग्र' की ओर, विशाल से विराट् की ओर ले जाती दिखाई देती है।

आज हमें आरती-विधान के पीछे जो तत्त्व-चिन्तन देखने को मिलता है, उसमें मात्र 'निजी' (सीमित अर्थ में) मंगल-कामना ध्वनि प्रतीत होती है और इष्ट या मूर्ति के समक्ष दीप-ज्योति का चक्रायण (घुमाना),

अथवा 'विग्रह' के समक्ष थाल-स्थित दीप को एक विधि विशेष से घुमाना प्रधान रहता है। दीप की यह 'घूम' मूर्ति के चरणों की ओर चार बार, नाभि की ओर दो बार, मुख-मण्डल पर एक बार तथा सर्वांग में सात बार करने का विधान प्रमुख है। यह प्रज्व-लित ज्योति घृत-दीप की अथवा कपूर की रहती है। प्रज्ज्वलित दीप-ज्योति की बत्तियाँ एक से लेकर सौ तक अथवा शताधिक भी हो सकती है। इस आरती के स्वरूप में ही पहले 'पत्र-पुष्प-फल-तोय' के रूप में इष्ट-विग्रह का पूजन तथा धूप-दीप के पश्चात् आरती करने वाले समूह पर जल-सिंचन तथा अन्त में भोग-विधान की क्रिया भी समाहित रहती है। सगुणभक्ति में थाल, दीपक, मोली, धूप, पुष्प, चन्दन, जलादि सामग्री जुटाकर आरती का जो विधान है, वह चलन में इतना व्यापक हुआ कि अनुष्ठान-पूजादि में गुरु-आचार्य की आरती उतारना भी सगुण भक्ति में समाहित हो गया। यही नहीं विवाहादि मंगल कार्यों में 'वर' की आरती या 'आरता' उतारना, युद्ध-भूमि को भेजते हुए, पुत्र या पति को प्रेरित करने के लिए, उसमें समाहित दिव्य-भाव को मण्डित करने के लिए आरती-विधान आज लोकमें प्रचलित दीख पड़ता है।

मुझे लगता है कि 'आरती' के प्रस्तुत विधान के मूल में ऋषियों का वैज्ञानिक तत्त्व चिन्तन सन्निविष्ट है, जो अपने स्वरूप में 'गति' से जुड़ा हुआ है अर्थात् जो गत्यात्मक है वही आरती है। यह गति एकनिष्ठता, एक दिशा, एक परिभ्रमण के रूप में चक्राय-मान है। सम्पूर्ण सृष्टि में आकर्षण का कोई ऐसा केन्द्र है, जिससे आकर्षित होकर यह सम्पूर्ण दृश्य चक्रित है। उसी से प्रेरित होकर अनन्त काल से यह पृथ्वी सूर्य की आरती करती आ रही है और चन्द्रमा इस पृथ्वी की। सूर्य भी अपनी धुरी पर न जाने किस विग्रह की आरती में अपने को निरत किये हुए है। नक्षत्र-दीप ही नहीं, पवन, सरित-धारा, समुद्र, मेघ आदि न जाने किस दिशा में अपने को 'आरती' का दीप बनाये हुए स्वयं में दीप्ति एवं गतिमान बने हुए है। कौतुक तो यह है कि यह चक्राकार आरती इतनी विधिवत् हो रही है कि कहीं कोई टकराहट नहीं। ऐसा लगता है, जैसे पावस-ऋतु में विद्युत-बल्ब पर असंख्यासंख्य पतंगे, छोटे-बड़े चक्राकार घूमते हों, पर कोई किसी से टकराता दिखाई नहीं देता। अथर्ववेद का ऋषि जब तत्त्व-चिन्तन की मुद्रा में हो रहीं शाश्वत 'आरती' के प्रति जिज्ञासा करता हुआ कह उठता है कि—

कथं वातो नेलयति,
कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्ती-
र्नेलयन्ति कदाचन्॥

—अथर्ववेद १०/७/३७

अर्थात् 'पवन क्यों स्थिर नहीं रहता, मन (मस्तिष्क) क्यों विश्राम नहीं करता, क्यों और किसकी तलाश में सरिता की धारा

क्षण भर के लिये नहीं रुकती ?' सृष्टि के हृदय में ऐसी कौन-सी गति-आरती है, जो निरन्तर गतिमान बनाये रखती है ? इस जिज्ञासा का समाधान ऐतरेय ब्राह्मण के 'चरैवेति-चरैवेति' मन्त्र के द्वारा ही मिलता है अर्थात् चलता है, चलते रहना है आगे, एक ही दिशा में, एक ही निष्ठा के साथ प्रज्ज्वलित रहकर। इस निरन्तर 'आरती' में कहीं कोई अवरोध नहीं, न थकावट है और न अवसाद। जो नीराजना बाह्य सृष्टि में, महाकाश में व्याप्त है, वही आन्तरिक सृष्टि में-घटाकाश में श्वास क्रममें गतिमान है। यह निरन्तर यात्रा ही निरन्तर आरती है।

'चरैवेति' का उक्त चिन्तन, भारत के परवर्ती तत्व चिन्तन में प्रवर्तक एवं निवर्तक विचार के रूप में विकसित हुआ है और आरती की संकल्पना दोनों प्रकार के तत्व चिन्तन में अपना स्वरूप सँवारती-सँजोती रही है। साधना-साहित्य अथवा बानी-साहित्य में 'आरती' काव्यरूप का जो स्वरूप देखने को मिलता है, उनमें कल्पनाके विभिन्न आयामों द्वारा अनेक रूपक बन्ध नियोजित हुए हैं, उनमें आरती-विधान के जो सगुण माध्यम हैं, निर्गुण उपासना में उन्हीं को प्रतीकत्व मिला है। अथवा यों कहें कि प्रवर्तक धर्म-चर्या के उपादानों में ही निवर्तक धर्म चिन्तन की सम्भावनाओं को जोड़कर एक सामर्थ्यवान् समन्वयात्मक स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। आरती के इस समन्वयकारी स्वरूप में सामाजिक की चेतना को जो विस्तार देने का प्रयत्न अभिव्यंजित है, उसमें भाव विधान की विशदता एवं विराटता का अनुभव होता है। उसमें व्यक्ति ही नहीं, पूरा समाज, लोक और प्राणी मात्र तक चैतन्य के स्फुरण से, व्यक्ति की संकीर्णता को प्राणों की अनन्यता में समर्पित करता हुआ, विराट् को जिस भूमिका में पहुंचता है अथवा पहुंच सकता है, वही 'आरती' का भावन और चिन्तन पक्ष है और लोक भूमि में वही उसकी दिव्यता है। उदाहरण के लिए जब हम गुरु-नानक द्वारा अनुभूत 'आरती' के चेतना से अपने 'स्व' को जोड़ते हैं, तो सहज ही (यदि रूढ़ि एवं आग्रहों को छोड़ सकें तो) विराट् जीवन का अनुभव होता है अथवा हो सकता है। वे कहते हैं कि उस 'एक पुरुष' की आरती में 'गगन' थाल रूप में, 'रवि-शशि' दीप रूप में, 'नक्षत्र' मोतियों के रूप में, 'मलय' पवन धूप-गन्ध के रूप में, 'पवन' चँवर के रूप में, सम्पूर्ण 'वनस्पति' माला के रूप में, (गुरु ग्रं० सा०, पृ० ६६३) नियोजित है। इस आरती-परिवेश में प्रवेश करते ही कौन सी संकीर्णता मन में टिकी रह सकती है ? ऐसी आरती के विधान में तो मात्र भाव सौन्दर्य ही नहीं, पूरी सांस्कृतिक चेतना भी अभिव्यंजित रहती है।

हिन्दी में विशेषतः सन्त-बानी में आरती काव्यरूप के विकास में जो प्रयोग मिलते हैं, उनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। सन्त-कबीर से पहले गुरु गोरखनाथ (कार्य-काल वि० सं० ११-१२ वीं शती) एवं स्वामी

रामानन्द (कार्यकाल: वि० सं० १२ वीं शती) की हिन्दी रचनाएं हमें मिलती हैं, जिनमें आरती काव्यरूप का प्रयोग है। एक, यद्यपि निर्गुण चिन्तन को पुरस्सर करता है, तो दूसरा सगुण को, परन्तु दोनों में ही दोनों प्रकार की साधना-उपासना के तत्व (घटाकाश और महाकाश अथवा आत्मन् और विष्णु-निरंजन) विद्यमान हैं। दोनों ने ही निर्गुण-निरंजन देव के प्रति आरती रूप में अपनी आस्तिकता को अर्पित किया है। स्वामी रामानन्द 'रमता राम' को इष्ट मानकर, 'निरंजनदेव' की पूजा के लिए ज्ञान-दीप एवं अनहदघंट के माध्यम से, मानस में सूक्ष्म आरती उतारते हैं। देखिए—'ज्ञान दीप लै आरती उतारै' (-रामा०, हि० रच०, आरति, पृ० ५३)। यद्यपि, वे अन्यत्र 'हनुमान आरती' में इष्ट के सगुण रूप की भी आरती करते हैं, पर, वहाँ भी 'परम पद' पाने के लिए ही प्रेरणा है (दे० रामा० हि० रच०, पृ० ७)। दूसरी ओर, अवधूत गोरखनाथ 'आरती उतारने' के स्थान पर 'आरती गाते' और 'आरती सजाते' हैं। उनकी दृष्टि में हरि का निरन्तर ध्यान ही 'हरि आरती' है। उन्होंने विश्वास प्रकट किया है कि जहाँ सिद्ध पुरुष ऐसी ध्यान आरती गाते हैं, वहाँ 'यम अर्थात् मृत्यु भय की वायु' तो निकट तक नहीं पहुँच पाती और स्वयं 'चन्द्र-सूर्य' सिजदा करते हैं और अखण्ड ज्ञान-प्रकाश छिटका रहता है—

नाथ निरंजन आरती गाऊँ ।
गुरु दयाल अग्यां जो पाऊँ ॥
जहाँ अनंत सिधाँ मिलि आरती गाई ।
तहाँ जम की बाव न नेड़ी आई ॥
जहाँ जोगेसुर हरिकूँ ध्यावैं ।
चन्द सूर तहाँ सीस नवावैं ॥

मछिंद्र प्रसादैं जती गोरखनाथ आरती गावै ।
नूर झिलमिल दीसैं तहाँ अगत न आवै ॥

—गो० बा०, पद ६१

गुरु गोरखनाथ द्वारा सजाई गई आरती के विधान एवं उपकरणों को देखकर आरती की भूमिका में जिस विराटता के दर्शन होते हैं, उसमें सगुण एवं निर्गुण दोनों उपासनाओं के तत्व समाहित दीख पड़ते हैं। 'आरती' यद्यपि निरंजन नाथ की ही है, जिसको नाथों (साधकों) ने सजाया है। आरती-विधान में सांगरूपकता इस प्रकार है कि गुरु के शब्द तो इस आरती-गान में झाँझ रूप में बज रहे हैं, ब्रह्मरन्ध्र या गगन मण्डल में अनहद नाद हो रहा है। वहीं, ज्योति स्वरूपी निरंजन ब्रह्म विराजमान है। उस परम ज्योति के सम्मुख ध्यान की लघु किन्तु अखण्ड ज्योति स्वरूपा बाती द्योतित है, जिसका प्रकाश समस्त लोकों में विकीर्ण हो रहा है। वह प्रकाश ही यह साक्षात् कराता है कि उस अक्षर निरंजन के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है। वह अनन्त कला वाला देव असीम है। उसके पार्श्व में निरन्तर शंख, मृदंग, बाँसुरी ध्वनित बनी रहती है। इस अखण्ड आरती-भाव में साधक यह कामना करता है कि स्वाति बिन्दु रूप में प्राप्त मुक्ता रूप ज्ञान से कलश रूप शरीर को पूर्णता का भाव

दिलाकर वन्दना-उपासना में अर्पित कर दूँ, सुरति-निरति रूप के पुष्प चढ़ाऊँ। वह निरंजन देव यद्यपि अमूर्त है अर्थात् परात्पर होने के कारण उसे मूर्ति या आकार में नहीं बाँधा जा सकता। वास्तव में निज तत्त्व रूप नाम ही उसकी मूर्ति है। ऐसा उद्बुद्ध ज्ञानरूपदेव ही सब देवताओं में श्रेष्ठ है। इस प्रकार से आदिनाथ (शिव) का नाती-शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र-शिष्य अवधूत गोरख आरती करता (गाता) है। देखिए—

नाथ निरंजन आरती साजै।
गुर के सब दूँ झालरि बाजै॥
अनहदनाद गगन में गाजै।
परम जोति तहाँ आप बिराजै॥
दीपक जोति अखंडत बाती।
परम जोति जगै दिन राती॥
सकल भवन उजियारा होई।
देव निरंजन और न कोई॥
अनंत कला जाकै पार न पावै।
संख, मृदंग, धुनि बेनु बजावै॥
स्वाति बूँद ले कलस बंदाऊँ।
निरति सुरति ले पुहुप चढ़ाऊँ॥
निज तत नांव अमूरति मूरति।
सब देवां सिरि उद्बुदि सूरति॥
आदि नाथ नाती मछेंद्रनाथ पूता।
आरती करै गोरख अवधूता॥
—गो० बा०, पद ६२

आगे निर्गुण उपासना के विकास में हम देखते हैं कि यहाँ आरती-पूजा-विधान 'परा-पूजा' की एक विधि विशेष प्रस्तुत करता दिखाई देता है। वाणी-साहित्य में इसे मानस-उपासना की एक विधि माना गया है। यह मानस-उपासना वेदान्त के आचार्यों द्वारा भी समर्थित रही है। यही कारण है कि आचार्य शङ्कर ने आरती-विधान के श्लोक रचे हैं। सन्त-बानी में सन्त-साधकों की मानस-व्यवहारचर्या को प्रतीकित-व्यञ्जित करने के लिये तिथि, दिनरैण, वार या सप्तवार, पहरे, आरती आदि के द्वारा दैनिक आचार को एक विधान विशेष में निरूपित किया गया है। इनसे सम्बन्धित 'बानी' में अमुक-अमुक आरतीकार सन्तों के आरती पदों में अपने परिवेश के सामाजिकों की आस्तिक्य भावना और बुद्धि को अपनी-अपनी आस्था के अनुरूप नियोजित किया गया है। आरती के माध्यम से अभिव्यक्त प्रतीक विधान में अपरोक्षतः तो कैवल्य भाव की प्रधानता देखने को मिलती है, किन्तु प्रत्यक्षतः सेव्य-सेवक भाव की व्यञ्जना मुखर है, जिसमें दो छोरों की एकाकारिता का भाव प्रधान है। मानस उपासना की 'आरती' भाव-धारा में शायद ही कोई सन्त रचनाकार बचा हो, जिसने अपनी आस्था का भाव पुष्प आरती के रूप में अपने इष्ट को अर्पित न किया हो। इन सन्त रचनाकारों में प्रमुख नाम हैं—नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास, रज्जबदास, हरिदास निरंजनी, धनी धरमदास, मलूकदास, सिंगाजी, दरिया साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, गरीबदास, पानपदास, पलटू साहब, तुलसी साहब

आदि आदि। इन सभी में, मध्यकाल की चारों भक्ति-धाराओं के पौष्टिक तत्वों को समेटकर, चिन्तन-ऊर्जा की भट्टी में तपाकर एकान्वित करने वाले पाँचवीं धारा के प्रमुख वाणीकार महामति प्राणनाथ का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। उनकी 'आरती-रचना' का विवेचन करने से पूर्व कुछेक सन्त कवियों के आरती-पदों का भाव-वस्तु विवेचन यहाँ अपेक्षित है, जिनमें पूर्वापर सम्बन्धों को देखना और वाणी-साहित्य में सामाजिक चेतना की सम्भावनाओं को परखना आजके मध्यकालीन साहित्य के अध्येता के लिये आवश्यक भी है।

सन्त-वाणी में प्रतिनिधि कबीर (सन् १३९८-१५१८ ई० अथवा सं० १४५५-१५७५ वि०) जैसे प्रखर चेतना के रचनाकार ने भी 'आरती की भावभूमि को 'पद' में बांधा है। उनका आरती पद (क० ग्रं०, पद ४०३) 'धनाश्री राग' में है, जिसमें उन्होंने आरती-विधान को सांकल्पिकता में बाँधते हुए 'परम पुरुष की आरती उतारी है। वे मानते हैं कि आरती के लिये 'परम प्रकाश' की अपेक्षा रहती है और उस विराट् की आरती उतारने के लिये प्राणों को विराट् होकर स्वयं ही गतिमान होना पड़ता है, क्योंकि ऐसे आरती-विधान में निजी (सीमित) उद्धार ही निहित नहीं रहता, अपितु तीनों लोकों के उद्धार का संकल्प ही प्रेरक रहता है। कबीर का आरती-पद देखिये—

ऐसी आरती त्रगुवन तारै।
तेज पुञ्ज जहाँ प्रांन उतारै॥
पाती पंच पुहुप करि पूजा।
देव निरंजन और न दूजा॥
तन मन सीस समरपन कीन्हा।
प्रगट जोति तहाँ आतम लीना॥
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा।
परम पुरिख तहाँ देव अनन्ता॥
परम प्रकास सकल उजियारा।
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥

इस विराट् चेतना वाली समाज-अध्यात्म के आरती-पद में कबीरजी कहते हैं कि मनुष्य के लिये ऐसी आरती अपेक्षित है जो तीनों लोकों का उद्धार करने वाली हो और ऐसी आरती प्राण-पण से उतारना ही सम्भव है, तभी उस तेज पुंज प्रभु की अर्चना हो सकती है, क्योंकि तेज पुंज प्राण ही ऐसा कर पाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसी आरती में पंच ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय पाती (पत्र) स्वरूप होकर तथा उनकी वासना गन्ध-स्वरूपा होकर जब समर्पित होती है, तभी माया रहित निरंजनदेव की उपासना सम्भव है। ऐसे आरती-भाव में एक देव के अतिरिक्त दूसरा देव शेष नहीं रहता। ऐसी आरती में तन-मन और उसका अहंभाव रूप शीश सहज ही समर्पित हो जाता है। आरती की ऐसी भाव दशा में चेतना अखण्ड ज्योति में लयलीन हो उठती है। ऐसी मानस-आरती के विधान में सामान्य दीपक प्रयोजनीय नहीं रहता, अपितु ज्ञान-भाव ही दीप रूप में ज्योतित हो उठता है और अनहद नाद घंट स्वरूप ध्वनित होने लगता है। इस प्रकार

परम पुरुष अलखदेव, जिनके परम प्रकाश से सम्पूर्ण विश्व दीपित हो रहा है, की आरती सम्भव है। कबीर अपने साधन भाव में निवेदन करते हैं कि प्रभु मैं तुम्हारा दास हूं, मेरी यह मानस-आरती स्वीकार करो।

कबीर के बाद दादूदयाल (सं० १६०१-१६६० वि० अथवा सन् १५४४-१६०१ ई०) ऐसे सन्त कवि हैं, जिन्होंने 'आरती काव्य रूप' में पाँच पद रचे हैं, जिनमें 'आरत-भाव, (आर्त्त-भावना, दीन भावना, कामना : 'लगियै ही रहै चित आरत'—घनानन्द) को चिन्तन की व्यापक पृष्ठ-भूमि में निरूपित किया गया है। इनके पदों में तन-मन चन्दन, माया-प्रेम, ज्ञान-दीप, प्राण-बत्ती और पंचेन्द्रियाँ पत्ती रूप में समर्पित होकर निरन्तर भक्ति भाव से, मानस-मन्दिर में आत्मदेव की आराधना 'आनन्द मंगल' भावना ओतप्रोत है। दादूदयाल का आरती-पद यद्यपि 'निराकार' को समर्पित है, परन्तु उसके सभी उपादान साकार भाव से जुड़े हुए हैं। एक आरती पद देखिये—

निराकार तेरी आरती,
बलि जाऊं अनन्त भवन के राइ।
सुर नर सब सेवा करैं,
ब्रह्मा, बिस्नु, महेश।
देव तुम्हारा भेद न जानैं,
पार न पावै सेस।
चन्द सुर आरति करैं,
नमो निरंजन देव।
धरति पवन आकास अरावैं,
सबै तुम्हारी सेव।
सकल भवन सेवा करैं,
मुनियर सिद्ध समाध।
दीन लीन ह्वै रहे संतजन,
अविगत के आराध।
जैं जैं जीवनि राम हमारी,
भगति करैं ल्यौ लाइ।
निराकार की आरति कीजै,
दादू बलि बलि जाइ।

—दादू०बा०, भा० २, पद ४४

दादू के शिष्य रज्जबदास (सं०१६२४-१७४५ : सन् १५६७-१६८८ ई०) ने सन्तों द्वारा निरन्तर होती रहने वाली मानसी-पूजा को ही आरती रूप में निरूपित किया है, यद्यपि वे मानते हैं कि उस परब्रह्म की आरती होना अथवा कर पाना सम्भव नहीं है; क्योंकि सीमित उपादानों से असीम को परिधि में आकलित कर पाना—आँक पाना कठिन ही नहीं असम्भव है। फिर भी उसकी आरती का औचित्य है। उसकी आरती तो उसके द्वारा ही होती है। आरती करने वाला 'आरती' के विराट् परिवेश से बाहर नहीं है। 'आरती' के मनमें आरती-भाव संकल्पना श्रद्धा-भक्ति आदि सभी कुछ तो उसी के दिए हुए हैं। इसीलिये रज्जब कहते हैं कि—मन-चित-वृत्ति और शब्द ये सब आपके ही तो दिए हुए हैं, आप ही इन्हें ग्रहण करें। मैं तो आप पर निछावर करने के भाव को लेकर ही आरती उतार रहा हूँ, (दे० रज्जब बा०, आरती-७, पृ० ४२९) फिर भी वे आरती

उतारते हैं, क्योंकि वे परंपरा भाव को निभाना चाहते हैं। कहते हैं कि आत्म-स्वरूप रमता 'राम' की आरती को, तन-मन की सेवा-भावना से सभी सन्तों ने उतारी है। ऐसी आरती के विधान में गुरु प्रदत्त दृष्टि दीप-ज्योति का काम करती है, हृदय की प्राण गति घण्ट-ध्वनि का काम करती है, जिससे निरंतर धैर्य-ध्वनि होती रहती है, ध्यानरूप धूप धूपित बनी रहती है, प्रेमरूप हार हरि को पहनाया जाता है, अठारह भार वनस्पति-पत्र (पाती-तुलसीपत्र)-पुष्प अर्पित बने रहते हैं। नख से शिखा तक सूक्ष्म शरीर वृत्तियाँ और संयम भाव ही चन्दन चर्चन है, जिसमें कर्त्तव्य-कर्म रूप केसर डालकर इष्ट को अर्पित किया जाता है। इस प्रकार सन्तों की सेवा-पूजा रूप आरती (विधान) मानस में निरन्तर होता रहता है। अन्त में बिना प्रभाव से रज्जब कहते हैं कि उस अनन्त-असीम की आरती के रहस्य को किस प्रकार जाना जा सकता है। देखिए—

आरती आतम राम तुम्हारी,
तन मन सेवा सौंज उतारी।
दीपक दृष्टि गुरु की दीनी,
घंटा घट धीरज धुनि कीनी।
ध्यान धूप हित लौ कर्पूरा,
पाती पुहुप अठारहि भारा।
नखसिख चन्दन नान्हां बाँटै,
केसरि करनी सौं हरि छाँटै।
ऐसी विधि उर अन्तर सेवा,
जन रज्जब क्या जाणै भेवा।

—रज्जब बा०, आरती-२, पृ० ४२६

दादू के अन्यतम शिष्य सन्त सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६ : सन् १५९६-१६८९ ई०) ने अपने दो आरती पदों में निर्गुण-निराकार चिन्तन को उनमें अपेक्षित अद्वैत भाव पूजा के द्वारा आरती-विधान के रूप में सहृदय की चेतना को सूक्ष्म एवं व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान की है। उनकी सात्विक चेतना को निरन्तर लगता रहा है कि उस परमात्मा की आरती उतारने के लिये सम्पूर्ण भौतिक उपादान सीमित और तुच्छ हैं, क्योंकि सर्वत्र व्यापक उस स्वामी की आरती कोई भी कैसे कर सकता है? अतः चिन्तन की मानसिकता में मौन धारण करना ही 'आरती भाव' है। देखिये—

आरती कैसे करौं गुसाँईं,
तुमहीं व्यापि रहे सब ठांईं।
तुमहीं कुंभ नीर तुम देवा,
तुमहि कहियत अलख अभेवा।
तुमहीं दीपक धूप अनूपं,
तुमहीं घंटा नाद स्वरूपं।
तुमहीं पाती पहुप प्रकासा,
तुमहीं ठाकुर तुमहीं दासा।
तुमहीं जलथल पावक पौना,
सुन्दर पकरि रहे मुख मौना।

—सु०ग्रं० द्वितीय०, पद १३, पृ० ९३८

फिर भी उन्होंने आरती की है। उनके द्वारा की गई आरती की व्यापक भूमिका देखिये—

आरती परब्रह्म की कीजै,
और ठौर मेरौ मन न पतीजै।

गगन मंडल में आरती साजी,
शब्द अनाहद झालरि बाजी।
दीपक ज्ञान भया प्रकाशा,
सेवक ठाढ़े स्वामी पासा।
अति उछाह अति मंगलचारा,
अति सुख विलसै बारंबारा।
सुन्दर आरती सुन्दर देवा,
सुन्दरदास करै तहाँ सेवा।

—वही, पद १२, पृ० ६३७

'हरिदास निरंजनी' (सं० १४७५-१५६५ वि० अथवा सं० १५१२-१६०० वि०) के द्वारा रचित तीन आरती-पद मिलते हैं, जिनमें निर्गुण-निराकार इष्ट की 'आरती भाव' में उपासना मिलती है। वे यद्यपि 'तेरी आरती हो अलख निरंजन राइ' के रूप में 'अलख निरंजन' की आरती तो करते हैं, किन्तु उनकी आरती मन के मज्जित होते ही आत्म-स्वरूपा हो उठती है, जिसमें 'निर्मल नेह' के द्वारा निरन्तर सेवा भाव ही आरती-स्वरूपा आत्म भाव है। देखिये—

आरती जग जीवण देवा,
आतम अजर निरंतरि सेवा।
चित चौकी हरि चरणा धरहूं,
आतम कंवल सिंघासण करिहूं।
दीपक ग्यान सबद उजियाला,
पाँचू पहौप सुरति की माला।
प्रीति परस ल्यौ चलन लाऊँ,
प्रेम कलस ले कलस चढ़ाऊँ।
सूधौ सांच ग्यान गहि झारी,
यहौ विधि परचौं देव मुरारी।
'निरमल' नेह चंवर करि झनकै,
गगन मंडल में झालरि ठनकै।
जन हरिदास भया मन मंजन,
आतम आरती करै निरंजन।

—हरि० वा०, पृष्ठ २७८

मध्यकाल की पाँचवीं धारा के समाजचेता एवं समन्वयी भावना के मनीषी रचनाकार महामति प्राणनाथ (सन् १६१८-१६९४ ई०) ने आरती की जिस विशाल (विराट् की) भूमिका में सामाजिक चेतना को अवगाहन कराया है, उसकी समीक्षा यहाँ अपेक्षित है। वास्तव में महामति-रचित 'आरती' में एक ओर तो अपने से पूर्व चली आती हुई आरती की संकल्पनाओं का समादर है, दूसरी ओर उन्होंने निर्गुण-सगुण-धाराओं की आरती विषयक अवधारणाओं को समन्वित करते हुए निगमागम परम्पराओं का सम्यक् समन्वय किया है। लगता है कि उनकी प्रेरणा-भूमि में देश की भागवत चेतना को एकाकार करके प्रस्तुत करने का लक्ष्य निहित था। तभी तो वे शून्य-मण्डल थाल में निरंजन-ज्योति के 'उजास' की प्रतिष्ठा देते हुए, व्याप्त चैतन्य को 'दयाल' की 'पसरी हुई दया' (करुणा) मानते हुए, प्रेम मगन हुई जीवात्मा-इन्द्रावती को, पिया (प्रभु) पर सब कुछ वारने के लिए प्रस्तुत करते हैं। पिया-सुरति में भीगकर आत्मा की यह दीपित दशा जब उद्बुद्ध होती है, तो कहाँ रह सकता है पराजित मनोभाव, परतन्त्र मानसिकता? समाज-देश की उस दमित-शोषित एवं हीन

बनी हुई मानसिकता में 'दुष्टता के संघार' को प्रमुखता देने वाली, अखण्ड आनन्द वाली चेतना का आपने अपने आरती-पद में पोषण किया है। ऐसी अमृत चेतना के स्पर्श से जिस अमृत-तत्व का अनुभव होता है, वह अपनी सामाजिक सामूहिक समन्वयी चेतना जागृति के रूप में, मध्य-काल में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इसलिए प्रस्तुत अभिव्यक्ति नव-खण्डों (परम्परा में प्रसिद्ध पृथ्वी के नौ खण्डों—भरत (भारत), किंपुरुष, भद्र, हरि, हिरण्य, केतुमाल, इलावृत, कुश और रम्य) का आरती रूप में नया विधान है, जिसमें तत्कालीन धर्म-उपासनाओं की सम्पूर्ण विधियों को समन्वित करके एक सूत्र में पिरो कर देखने का प्रस्तुत्य प्रयास है। इसमें व्यक्ति बुधजी के 'तारतम ज्ञान का प्रकाश' और 'जागनी-रासलीला' के अखण्ड विहार की छाया तो अनुभव में आती ही है साथ ही नई विवेचण की व्यंजना आह्वान की चेतना के रूप में दूर तक प्रभाव डालती प्रतीत होती , क्योंकि इस 'आरती' के सम्पन्न होने में आरती-कलश का जो मंगलदायक जल है, वह बिना किसी भेद-भाव के सभी पर आक्षिप्त (आरबरत) है। लेखक को तो इस आरती में 'ब्रह्माण्ड में नौबत गाजने के रूप में नौबत (नगाड़ा) बजाकर स्वतन्त्र कराने की प्रेरणा-ध्वनि भी सुनाई देती है, क्योंकि सभी ऋषि-मनीषी-साधक-सन्त एवं देव-शक्तियाँ इस आरती-परिवेश में आकर नई ऊर्जा से नया विधान करती दिखाई दे रही हैं। इसमें कहीं भी ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-हीन का भाव नहीं है, क्योंकि चारों वर्ण के लोगों को एक आध्यात्मिक ओज ही एकाकार करता प्रतीत होता है। समाज सन्दर्भ में आरती-भाव की इतनी व्यापकता आरती-पदों के इतिहास में, इससे पहले कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसे आरती भाव की समग्रता में अवगाहित होने के लिए कौन तैयार नहीं होगा, जिसमें 'कैदी और बेकैदी' सभी आरती की भूमिका में एकत्र होकर संकल्प करते दीखते हैं। सम्भावनाओं को समझने के लिए यहाँ पूरा का पूरा आरती-पद प्रस्तुत है, जिसमें परतन्त्रता का 'असत्' निरस्त करके स्वातन्त्र्य चेतना के 'सत्' को स्थापित किया गया है। देखिए—

भई नई रे नवों खंडों आरती,
बिजिया अभिनंद की आरती।
प्रेम मगन होए उतारती,
सखी आप पिया पर वारती ॥
दुष्टाई सबों की संघारती,
सुख अखंड आनंद विस्तारती।
जग सचराचर तारती,
भई नई रे नवों खंडों आरती ॥
सैयां सबे सिनगार साजती,
मिने सुरत पिया की विराजती।
ए सोभा इतहीं छाजती,
भई नई रे नवों खंडों आरती ॥
झालर अगनित बाजे ले बाजती,
ब्रह्मांड में नौबत गाजती।
कलियुग सेना सुन भाजती,
भई नई रे नवों खंडों आरती ॥

सप्त ताल सुन मंडल थाल,
निरंजन जोत भई उजाल।
झलहलिया इत नूरजमाल,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
पसरी दया प्रगटे दयाल,
काटे दुखी के करम जाल।
चैतन्य स्वामी भए निहाल,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
सैन्या सहित आए त्रिपुरार,
आए ब्रह्मा पढ़त मुख वेद चार।
विस्नु बोलत बानी जैजैकार,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
आए धरमराए और इंद्र वरुन,
नारद मुनि गंधर्व चौदे भवन।
सुर असुरों सबों लई सरन,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
आए सनकादिक चारों धर्म,
लिए खड़े संग विस्नु ब्रह्माण्ड।
जो ब्रह्म अनभवी भए अखंड,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
जिन हद कर दई नवधा भगत,
जुदी कर गाई पाई प्रेम जुगत।
यों आए सुक व्यास बड़ो मत,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
आए नव नाथ चौरासी सिध,
बरस्या नूर सकल या विध।
इत आए बुध जी ऐसी किध,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
आए चारों संप्रदा के साधुजन,
चार आश्रम और चार बरन।
चारों मूर्तों के आए गावते गुन,
भई नई रे नव खंडों आरती॥
आए गछ चौरासी जो अरहंती,
दत्तजी दसनामी जो महंती।
आए करम उपासनी वेदांती,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
आए खटदरसन खटसास्त्र भेदी,
बहत्तर फिरके आए अथर्ववेदी।
आए सकल कैदी और बेकैदी,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
बुधजी की जोत कियो प्रकास,
त्रिलोकी को तिमिर कियो नास।
लीला खेले अखंड रास विलास,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥
पिया हुकमें गावें महामत,
उड़ाए असत थाप्यो सत।
सब पर कलस हुआ आखरत,
भई नई रे नवों खंडों आरती॥

—किरंतन,प्रकरण ४६,पृ०११४-१६

ऐसा लगता है कि सभी पूजा-उपासना की पद्धतियों को नवदुर्गा शक्ति संगठन के रूप में, देश की शाश्वत ऊर्जा-धाराओं को, आरती-परिवेश में एकत्रित होने के लिए सांस्कृतिक चेतना के धनी महामति द्वारा, भारत के जन-मन में ज्योति-संचार का आह्वान हो रहा है। महामति के बाद भी अनेक सन्त रचनाकारों ने आरती-पदों का विधान किया है, किन्तु सामाजिक सन्दर्भ में महामति जैसी व्यापकता कहीं भी देखने को नहीं मिलती, यद्यपि सन्त-उपासना की

परम्परा का बखूबी निर्वाह के साथ ही लोक-वेद को निजता की सुखानुभूति के रूप में अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए यारीसाहब (सं० १७२५-१७८० वि०) मन को जिस आरती की भूमिका में उतार रहे हैं, वहाँ ज्ञान दीपक का स्वरूप निर्गुण-उपासना के बहुत निकट का लगता है। देखिए—

विरहिनी मन्दिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों,
बिन दीपक उजियार॥

—यारी० रत्ना०, शब्द १

और भी—

आरति करो मन आरति करो।
गुरु प्रताप साधु की संगति,
आवागवन तें छूटि पड़ो॥
अनहद ताल आदि सुधि बानी,
बिन जिभ्या गुन बेद पढ़ो।
आपा उलटि आतमा पूजो,
त्रिकुटी न्हाइ सुमेर चढ़ो॥
सारंग सेत सुरति सों राखो,
मन पलंग होइ अजर जरो।
ज्ञान कै दीप बरै बिनु बाती,
कह यारी तहँ ध्यान धरो॥

—यारी० रत्ना०,शब्द ६

गुलाल साहब (सं०१७५०-१८१६ वि०) ने १३ आरती पद रचे हैं, जिनमें अन्तर्मुखी मन के थाले में पुष्पित फुलवारी के रूप में वैयक्तिक उपासना ही सुगन्धित जान पड़ती है, किन्तु कहीं भी चेतना संकुचित नहीं जान पड़ती। एक उदाहरण देखिए—

गगन को थार बनाय,
प्रेम भरि आरति वारी।
चौमुख चमकत जोति,
उठत झन झनकारी।
मन पवना को फेर,
सहज धरि लागति तारी।
उनमनि लागी बंद,
थकित भई नौ दस नारी।
पाँच पचीस तिन आरि,
सहज धरि लागति तारी।
लोक वेद कियो दान,
दई तब आरति वारी।
कोटिन चंद उगाय,
अमीरस नाना भारी।
गुरुमुख भयो प्रसाद,
मनहि मन आरत प्यारी।
मन सतगुरु बलिहारि,
चरन छबि पर जिय वारी।
कह गुलाल बौराइ,
आरति फुलनि फुलवारी॥

—गुलाल० बा०, आरती २, पृ० १२१

'पलटू साहब' (उन्नसवीं शती विक्रम) ने तीन आरती-पदों की रचना की है, जिनमें गुरु गोविन्द एवं गरीब निवाज राम तथा 'सन्त-चरन' की आरती के माध्यम से लोक में सात्विक भाव के प्रसार को तो महत्व प्रदान किया ही है। 'मुक्ति' के पीछे भागने की वृत्ति का तिरस्कार करते हुए सन्त और राम को एक ही भूमिका में प्रतिष्ठित करके जन की आध्यात्मिक ऊर्जा को लोक की ओर

'ऐतरेय ब्राह्मण' पर आधारित एक उपाख्यान

चरैवेति-चरैवेति

❀ स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। उसने पर्वत और नारद नाम के ऋषियों से उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि तुम वरुण की उपासना करो। वह वरुण के पास गया कि मुझे पुत्र दो। उससे तुम्हारा यजन करूँगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। हरिश्चन्द्र के पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम रोहित रक्खा गया। वरुण ने कहा—तुम्हारे पुत्र हो गया, इसको मेरी भेंट करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी पशु है, दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का हो जाय, तब यज्ञीय होगा।

वरुण ने कहा—अच्छा!

वह पुत्र दस दिन का हो गया, वरुण ने आकर कहा—दस दिन का हो चुका अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दाँत भी नहीं निकले, जब दाँत निकल आवेंगे, तब मेध्य होगा। दाँत निकल आने दो तब यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा!

उसके दाँत निकल आये। तब वरुण फिर आ पहुँचा—अब तो दाँत निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी निरा पशु है, जब दूध के दाँत गिर जायेंगे, तब यज्ञीय होगा। दाँत गिर जाने दो, तब यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा!

उसके दूध के दाँत भी गिर गये। वरुण ने फिर माँगा—अब तो दूध के भी दाँत गिर गये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—जब नए दाँत निकल आते हैं, तब मेध्य होता है। जरा नए दाँत जम आने दो, फिर यजन करूँगा।

वरुण ने कहा—अच्छा!

उसके नए दाँत भी जम आये। वरुण ने फिर टोका—नए दाँत भी निकल आये अब लाओ।

मोड़कर समर्पित करने-कराने का स्तुत्य प्रयास किया है। देखिए—

जै जै जै, गुरु गोबिंद आरती तुम्हारी।

अथवा

आरती कीजै संत चरन की,
यही उपाय न आन तरन की।
संत कौ जस हरि श्रीमुख गावैं,
संत कि रज ब्रह्मा नहिं पावैं।
संत चरन बैकुण्ठ है लोचन,
संत चरन को तीरथ सोचत।
संत राम से अंतर नाहीं,
इक रस देखत दुऊ माहीं।
लक्ष्मी है संतन की दासी,
रज चाहत कैलास के बासी।
कोटि मुक्ति संतन की चेरी,
पलटूदास सुण हम केरी।

—पलटू०बा०, भा० ३, आरती १३, पृ० ६

संकेत रूप में कह सकते हैं कि 'आरती' काव्य रूप में तत्कालीन सामाजिक तत्त्वों की सम्यक् अभिव्यंजना देखने को मिलती है। ❁

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रिय पुत्र जब कवच धारण करने लगता है, तब किसी काम के योग्य (मेध्य या यज्ञीय) होता है। बस कवच पहिनने लगे, तो तुम्हारे लिए इसका यजन कर दूं।

वरुण ने कहा—अच्छा!

वह कवच भी धारण करने लगा। तब वरुण ने हरिश्चन्द्र को छेड़ा—अब तो कवच भी पहनने लगा अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छी बात है, कल आना। उसने रातों-रात पुत्र से सलाह की और उसे जंगल में भगा दिया। दूसरे दिन जब वरुण पहुंचा, तो कह दिया—वह तो कहीं भाग गया।

अब वरुण के उग्र नियमों ने उसे पकड़ा। हरिश्चन्द्र के जलोदर हो गया। रोहित ने जंगल में पिता के कष्ट का समाचार सुना। वह वहां से बस्ती की ओर लौटा। तब इन्द्र पुरुष का वेष बनाकर उसके सामने आया और निम्नलिखित गीत का एक-एक श्लोक एक-एक वर्ष बाद उसे सुनाता रहा। इस प्रकार पांच वर्षों में यह संचरण—गीत पूरा हुआ और पांच वर्षों तक रोहित अरण्य में घूमता रहा। गीत इस प्रकार है—

(१)

चरैवेति-चरैवेति

नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति,
इति रोहित शुश्रुम।
पापोनृषद्वरो जन,
इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति-चरैवेति।

हे रोहित! सुनते हैं, श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बार-बार चलता रहता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(२)

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे,
भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः,
श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति-चरैवेति।

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जांघों में फूल फूलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलने वाले के पाप थक कर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(३)

आस्ते भग आसीनस्य,
ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य,
चराति चरतो भगः॥
चरैवेति-चरैवेति।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(४)

कलिः शयानो भवति,
संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठं स्त्रेता भवति,
कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति-चरैवेति ।

सोने वाले का नाम कलि है, अङ्गड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सत-युगी है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

(५)

चरन् वै मधुविन्दति,
चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य परम श्रेमाणं,
यो न तन्द्रयते चरन् ॥
चरैवेति-चरैवेति ।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है, सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।

इस सुन्दर गीत में इन्द्र ने रोहित को सदा चलते रहने की शिक्षा दी है। इन्द्र को यह शिक्षा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से मिली थी। गीत का वास्तविक अभिप्राय आध्यात्मिक है। चलते रहो, चलते रहो, क्योंकि चलने का नाम ही जीवन है। ठहरा हुआ पानी सड़ जाता है, बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। बहते हुए पानी में गन्दगी रहती है, वही वायु और सूर्य के प्राण भण्डार में से प्राण को अपनाता है, पड़ाव डालने का नाम जिन्दगी नहीं है। जीवन के रास्ते में थककर सो जाना, या आलसी बनकर बसेरा ले लेना मूर्च्छा है। जागने का नाम जीवन है। जागृति ही गति है, निद्रा मृत्यु है। अध्यात्म के मार्ग में बराबर आगे कदम बढ़ाते रहो, सदा कानों में 'चलते रहो, चलते रहो' की ही ध्वनि गूँजती रहे। वह देखो सूर्य अनन्त आकाश को पार करता हुआ और अपरिमित लोकों का भ्रमण करता हुआ प्रातः काल आकर हममें से प्रत्येक के जीवन-द्वार पर यही अलख जगाता है—

'चलते रहो, चलते रहो।'

इन्द्र तो चलने वालों का ही सखा है। (इन्द्र इच्चरतः सखा) आत्मा उनका ही स्वयंवर है, जो मार्ग में चल रहे हों, एक पद के बाद दूसरा पद शीघ्र उठाते हुए अध्यात्म के अनन्त पथ को चीरते चले जाते हों।

—० संसार ही उन्नति का क्षेत्र है ? ०—

किसी कल्पना या भावना के पीछे न पड़कर विचार से जो उचित मालूम हो उसी के लिए अपना जीवन अर्पण करो। केवल अपने सुख की कल्पना को छोड़कर उदात्त भाव से दूसरों के सुख का विचार करो। सेवा करने की पवित्र वृत्ति धारण करो, प्रभु का विश्वास करो और सच्चा कर्मयोग सिद्ध करो। अपने जीवन को प्रेममय बनाकर उन्नति के मार्ग पर चलो। संसार को ही अपनी उन्नति का क्षेत्र मानो। —ना०पंजी

सामाजिक-जीवन

ॐ श्री हरिशङ्कर शर्मा

सब ने इस शुभ युग में विकास पाया था,
मानो शासन-ऋतुराज वहाँ आया था।
थी सुख-समृद्धि की वृद्धि न निर्धनता थी,
दूधों नहा पूतों फली आर्य जनता थी॥

वह युग था धन्य-अनन्य, पुण्य प्रभु प्रेरा,
था नैतिकता का नृत्य : सुकृत्य घनेरा।
सर्वदा शान्ति सुख की वर्षा होती थी,
सब थे धर्म्मश, ज्ञान-चर्चा होती थी॥

सुख-शान्ति-सुधा-रस राष्ट्र-पान करता था,
ज्ञानी-गुणियों का देश मान करता था।
विद्वत्समाज वर ज्ञान-दान करता था,
जग रामचन्द्र का कीर्ति-गान करता था॥

सर्वत्र-सर्वदा प्रभु-सत्ता जानी थी,
उस परम तत्त्व की ही महिमा मानी थी।
प्रभु सत्कर्मों में शक्तिदान देता था,
वह दान-पुण्य में भक्ति-ज्ञान देता था॥

निर्भ्रान्त भाव से ईश्वर को भजते थे,
परिणाम-रूप दुष्कर्म सभी तजते थे।
हृदयों में सदा सत्य-धारा बहती थी,
श्रद्धा-विवेक में शुचि समता रहती थी॥

परमात्म-प्रार्थना तन्मय हो करते थे,
प्रभु-भक्ति-सुधा मन-मानस में भरते थे।
सब के विचार प्रभु से ही सम्बन्धित थे,
सब कर्मों में प्रभु के संकेत निहित थे॥

चित्तनिरोध के उपाय

❀ श्री वैद्य रामचन्द्र शर्मा शास्त्री

किसी भाई का प्रश्न है कि चित्त बड़ा चञ्चल है और प्रमादी है, इसे रोकना बड़ा कठिन है। यद्यपि शास्त्रकारों ने इसके निरोध के अनेक उपाय बताये हैं। उन उपायों को पढ़ने-सुनने और समझने की चेष्टा भी की जाती है एवं उन बतलाये मार्गों के अनुसार साधना करने का यत्किंचित प्रयत्न भी किया जाता है, मन फिर भी स्थिर नहीं होता। अतः इसके इसके निरोध का सुगम उपाय क्या है?

उत्तर यह है—दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति के लिए चित्त का निरोध आवश्यक है। श्रुति-स्मृति शास्त्रों में बतलाये हुए साधनों के अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करने से इसका निरोध हो सकता है। किन्तु असल बात तो यह है कि साधक-गण इसके लिए यथेष्ट प्रयत्न तो करते नहीं, केवल सुगम उपाय पूछते रहते हैं। इसलिये प्रायः साधकों की यही शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। शास्त्रकारों ने चित्त-निरोध के जो अनेक उपाय बतलाये हैं, उनमें से किसी के लिए कोई सुगम उपाय पड़ता है तो किसी के लिए कोई। स्वभाव की विभिन्नता के लिए महर्षियों ने अधिकारी भेद से नाना विधि साधनों का उल्लेख किया है। अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार इनमें से जो-जो साधन मैं सुगम समझता हूँ, उन्हें बतलाने का प्रयत्न करता हूँ।

सर्व प्रथम ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि मन वश में हुए बिना उसका निरोध होना कठिन है और पवित्र हुए बिना मन का वश में होना कठिन है। इसलिए सर्व प्रथम मन को शुद्ध बनाना चाहिये। उसकी शुद्धि के लिए महात्माओं ने अथवा भगवान् ने अनेक साधन बतलाये हैं। महर्षि पतञ्जलिजी ने सुखी पुरुषों से मित्रता, दुःखियों पर दया, पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापियों से उदासीनता रखना चित्त या मन की शुद्धि का उपाय बतलाया है और मन के प्रसन्न होने से ही शुद्धि होती है, तब चित्त निरोध होता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावना तश्चित्त-प्रसादनम्।

—योग०द० १/३३

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अध्याय ५ श्लोक ११ में मन शुद्धि के लिए आसक्ति को त्याग कर कर्म करने की आज्ञा दी है। अन्य सभी-महात्माओं ने भी लगभग इसी प्रकार कहा है। सबका निचोड़ यही निकलता है कि सब ही के हित में रत रहकर निरभिमान एवं निस्वार्थ भाव से सबकी आत्मा को सुख पहुँचाना ही अन्तःकरण की शुद्धि

का उत्तम उपाय है। वह हरि के नाम का स्मरण एवं कीर्तन भी मन: शुद्धि का सुगम उपाय है—

हरिर्हरति पापानि,
दुष्ट चित्तैरपि स्मृत: ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो,
दहत्येव हि पावक: ॥

—बृ० नारद० १/११/१००

बिना इच्छा के स्पर्श करने पर भी जिस प्रकार अग्नि निश्चय ही जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्त वाले मनुष्यों द्वारा भी स्मरण किये हुए हरि पापों को हर लेते हैं। गीता में लिखा है :—

अपि चेत्सुदुराचारो,
भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य:,
सम्यग्व्यवसितो हि स: ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा,
शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि,
न मे भक्त: प्रणश्यति ॥

—गीता ९/३०-३१

अर्थात् कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त हुआ निरन्तर मुझे भजता है, वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है, इसलिये वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। उपर्युक्त साधनों से पापों का नाश हो जाने पर मन शुद्ध और स्वाधीन हो जाता है फिर एकाग्र और निरोध हो जाना तो अत्यन्त ही सहज है। इस प्रकार शुद्ध और स्वाधीन हुआ मन परमानंद प्राप्ति के योग्य बन जाता है। प्रथम यह समझने की आवश्यकता है कि मन का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने अनेक बातें बतलायी हैं।

महर्षि पतञ्जलिजी ने भी कहा है—

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतय: ।

—योग०द० १/६

अर्थात्—प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) विकल्प (कल्पना) निद्रा और स्मृति चित्त (मन) की ये पाँच वृत्तियाँ बतलायी हैं। इनके निरोध का नाम ही योग है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: ।

किसी महात्मा ने चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थायें बतलायी हैं और किसी ने संकल्प को ही इसका स्वरूप कहा है।

अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार सभी की मान्यता ठीक है। अत: सार रूप से यह कहा जा सकता है कि संकल्पों का आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं, उसका नाम मन है। संकल्पों का आधार होने के कारण भी मन सङ्कल्प रूप भी कहा जा सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि सङ्कल्पों का निरोध किस सहज उपाय से किया जा सकता है। किन्तु इससे भी पूर्व

यह जान लेने की आवश्यकता है कि सङ्कल्पों के बार-बार उठने से साधना के लिए रुचि न होने में प्रधान हेतु कौनसे हैं ? इनके साथ ही साधना-काल में उपस्थित होने वाले विघ्नों को भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

विघ्नों के विषय में महर्षि पतञ्जलिजी इस प्रकार लिखते हैं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-
भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित-
त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः
विक्षेपसहभुवः ।

—योग० ३०/३१

रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), अवैराग्य आलस्य का भाव, भ्रम चित्त-भूमि की अप्राप्ति, चित्त का विशेष समय तक स्थिर न रहना यह सब चित्त के विक्षेप हैं। दुःख, क्षोभ, अंगों का फड़कना, श्वासों का आना-जाना यह सभी सब विक्षेपों के साथ रहते हैं। अन्य शास्त्रकारों का भी न्यूनाधिक रूप से प्रायः यही कहना है। इन सब विघ्नों में व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति, स्फुरण ये छः प्रधान हैं। और इनमें विशेष आलस्य और स्फुरण बाधक हैं। अन्तःकरण में अनेक संकल्पों के उत्पन्न होने में पूर्वार्जित सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मों का संस्कार तथा बुरी आदत और विषयों की आसक्ति तथा साधन की ओर रुचि न होने में पूर्व कृत पाप कर्मों का समुदाय एवं संशय, भ्रम और अश्रद्धा ही प्रधान हेतु है।

आसक्ति के नाश के लिये इस संसार के अनित्य नाशवान और क्षण भंगुर सम्पूर्ण पदार्थों और विषय-भोगों में दोष और दुःखों का बार-बार विचार कर उन से वैराग्य एवं उनका मनो चित्त त्याग करना चाहिये। प्रारब्ध कर्म का क्षय तो प्रायः भोग से ही होता है। और सञ्चित कर्मों का यानी सम्पूर्ण पापों का नाश निष्काम भाव से दुःखी मनुष्यों की सेवा तथा ईश्वर नाम जप से होता है। बुरी आदत, संशय, भ्रम और अश्रद्धा के नाश के लिये सत्पुरुषों का संग सत् शास्त्रों का विचार ही विशेष लाभ प्रद है।

मन निरोध के विषय में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्णजी से पूछा था अर्जुन की शंका को स्वीकार कर यही उपदेश दिया। कि मन चञ्चल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्य से वह स्थिर हो सकता।

महर्षि पतञ्जलि का भी यही कथन है—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है। सांख्यकार महर्षि कपिलदेव ने भी अभ्यास और वैराग्य से चित्त का निरोध बतलाया है। अन्य शास्त्रकारों का भी यही सिद्धान्त है।

किसी भक्त ने कहा है—

मन फुरना से रहित कर,
जौने विधि से होय।
चहै भक्ति चहै योग से,
चहै ज्ञान से खोय॥

उपर्युक्त वचन से भी यह सिद्ध होता है कि अभ्यास और वैराग्य ही चित्तनिरोध के

लिये उत्तम उपाय है। इसलिये विषयों से वैराग्य करके मन के निरोधार्थ कटिबद्ध होकर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रसंग पर अभ्यास और वैराग्य का स्वरूप समझ लेने की आवश्यकता है। त्रिगुणात्मक संसार के विषय भोगों और समस्त पदार्थों में तृष्णा और आसक्ति के अभाव का नाम ही वैराग्य है। अभ्यास एक व्यापक शब्द है। उसकी व्याख्या विस्तृत है। यहाँ विस्तार न करके सारी बातें ही बतलायी जाती हैं। इस विषय में महर्षि पतञ्जलिजी का कहना है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

—योग-१-१३

अर्थात्—परमात्मा में स्थिति के लिये यत्न करने का नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घ काल नैरन्तर्य सत्कारा
सेवितो दृढ़ भूमिः।

—योग-१-१४

यह अभ्यास दीर्घ काल तक आदर पूर्वक किया हुआ दृढ़ भूमि (स्थिति) वाला होता है। भगवान श्रीकृष्णजी का भी यह कहना है।

यतो यतो निश्चरति
मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततोनियम्यै
तदात्मनेव वशं नयेत्॥

—गीता

स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है उससे रोककर बार-बार परमात्मा में ही निरोध करें। समस्त विघ्नों के नाश एवं मन को स्थिरता के लिए सबसे उत्तम और सहज उपाय ईश्वर के नाम का जप और उसके स्वरूप का ही चिन्तन है। महर्षि पतञ्जलिजी का यही कथन है।

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

—योग-१-२३

ईश्वर की भक्ति से ही चित्त की वृत्ति का निरोध होता है।

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थ भावनम्।
ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्त-
राया भावश्च॥

—योग-१-२७/२९

अर्थात्—उस ईश्वर का नाम ओंकार है। उस ईश्वर के नाम का जप उसके स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये उससे समस्त विघ्नों का अभाव और आत्मा का साक्षात्कार भी हो जाता है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन के प्रति कहते हैं:—

अनन्य चेता सततं
यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभ पार्थ
नित्य युक्तस्य योगिनः॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त से स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, मुझमें युक्त हुए योगी के लिए सुलभ हूं। इसलिये ईश्वर के नाम का जप और स्वरूप का चिन्तन अवश्य करना चाहिये।

अभ्यास के विषय में और भी युक्तियाँ

शास्त्रों में मिलती हैं। उनमें से किसी एक के अनुसार साधन करने पर मन स्थिर होना सम्भव है। उनमें से कुछ युक्तियाँ ये हैं।

मन जहाँ जाय वहाँ से हटाकर उसको अपने अधीन करके परमात्मा में लगाने की अपेक्षा करे। मन जहाँ जाय वहीं परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना और भी सहज सुगम उपाय है। मन को काबू में करने के लिए इन युक्तियों को काम में लाने की चेष्टा करनी चाहिये। ईश्वर सब जगह व्यापक है ही, अपनी समझ के अनुसार श्रद्धा और प्रेम से उस परमेश्वर का सब जगह चिन्तन करने से चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

भगवान् शिव अथवा विष्णु की अथवा अपने इष्टदेव की उसकी मूर्ति या चित्र को सम्मुख रखकर श्रद्धा और प्रेम से भगवान् के मुखारविन्द पर नेत्रों की वृत्ति को स्थिर-स्थापन करके अपने ऊपर भगवान् की अपार दया और प्रेम का अनुभव करता हुआ उस आनन्दमय परमेश्वर के मुख-कमल पर मन रूपी भँवर को स्थिर-स्थापन करने से भी चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होकर निरुद्ध हो सकती हैं।

प्रातःकाल सूर्य के सम्मुख खड़े होकर नेत्र मूँद कर सूर्य की ओर देखने से एक महा प्रकाश-पुञ्ज सर्वत्र समभाव से प्रतीत होता है, उसको लक्ष्य करके उससे हजारों गुना अधिक एक प्रकाश का पुञ्ज आकाश की तरह सर्वत्र समान भावसे परिपूर्ण हो रहा है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है यही परमात्मा का तेजोमय स्वरूप है। इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण संसार को भूलकर उस तेजोमय परमात्मा के स्वरूप में चित्त की वृत्तियाँ लगाने से भी चित्त स्थिर हो जाता है। ध्यान लगाने से भी चित्त में वैराग्य होकर चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकता है। निरोध करने का भी एक सरल उपाय है।

महर्षि पतञ्जलिदेव ने भी कहा है—

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

वीतराग पुरुषों के चिन्तन से चित्त स्थिर हो जाता है। हृदय-देश में एक सुषुम्ना नाम की नाड़ी है, उस नाड़ी में परमानन्द विराजमान है। गीता में लिखा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।

परमात्मा विज्ञानानन्द रूप है। इसलिए उस नाड़ी में चेतन और आनन्द की भावना करनी चाहिए। उस नाड़ी का शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियों से सम्बन्ध है, इसलिये उसके बन्द हो जाने से सब नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। उस नाड़ी की चाल साधारणतया एक-मिनट में ७५ या ८० बार समझी जाती है। उसी चाल पर हमारे हाथों की और मस्तकको नाड़ियाँ टकराती हैं। इसकी प्रत्येक चाल के साथ ॐ का जप करते हुए विज्ञानानन्दघन परमात्मा की भावना उस नाड़ी में की जावे तो चित्त की वृत्तियाँ स्थिर होकर परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

यह साधन कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु शब्द रहित जहाँ विशेष बाधा देने वाले शब्द न सुनाई दें, ऐसे एकान्त स्थान में एकाग्री

अशून्य दर्शन

श्री जिनेन्द्र वर्णी

पृथक्-पृथक् इन स्थूल पदार्थों के भीतर ही नहीं, उनके मध्यवर्ती इस शून्य आकाश में भी सर्वत्र वह स्पन्दन ठसाठस भरा हुआ है। स्पन्द के इस महा सागर में एक परमाणु मात्र प्रदेश भी ऐसा नहीं, जहाँ वह स्पन्द विद्यमान न हो। भले प्रत्यक्ष न हो, परन्तु उसके प्रत्यक्षीभूत कार्यों पर से उसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस प्रकार आकाशवाणी के लाखों केन्द्रों से प्रसारित रेडियो तरंगें इस व्योममण्डल में सर्वत्र ठसाठस भरी पड़ी हैं, उसी प्रकार जड़ पदार्थों की क्रियाओं से प्रसारित भौतिक तरंगें और चेतन पदार्थों के हृदय से तथा मनों से प्रसारित आध्यात्मिक तरंगें इस आकाश में ठसाठस भरी पड़ी हैं।

विश्व भर के सभी आकाशवाणी केन्द्रों से प्रसारित विद्युत तरंगें इस आकाश में परस्पर घुली-मिली पड़ी होने पर भी आपका रेडियो अथवा टेलीविजन सेट उनमें से उसी तरंग को ग्रहण करता है, जिस पर आपने-अपने इच्छानुसार उन्हें 'ट्यून' किया है। उसके अतिरिक्त अन्य तरंगों को वे छोड़ देते हैं। इस कारण वे उसी केन्द्र से प्रसारित नाम रूप कर्म को व्यक्त करते हैं, अन्य को नहीं। इसी प्रकार इस व्योम-मण्डल में सर्वत्र रूप रस आदि विविध स्पन्द घुल-मिलकर पड़े हैं, परन्तु आपकी इन्द्रियाँ उन सब में से उनका ही ग्रहण करती हैं, जिन पर वे लक्षित की गई हैं, अन्य का नहीं।

कौन नहीं जानता कि इस समष्टि में स्थित सभी जड़-चेतन पदार्थ एक दूसरे से प्रभावित हुए जा रहे हैं। अलेक्ट्रॉन प्रोटान से आकर्षित होकर उसके चारों ओर घूम रहा है, चन्द्र पृथ्वी के और पृथिवी सूर्य के। इसी प्रकार सभी ग्रह और उपग्रह पारस्परिक आकर्षण विकर्षण शक्तियों के द्वारा एक दूसरे की परिक्रमा करते हुए अपने-अपने स्थान पर टिके हुए हैं। वहाँ से च्युत नहीं होते हैं। इसी प्रकार चेतन जगत् में भी एक का हृदय दूसरे से प्रभावित हो रहा है। यदि मध्यवर्ती शून्य में स्पन्दन न हुआ होता तो यह कैसे सम्भव होता ? मध्यवर्ती शून्य में स्थित यह स्पन्दन ही वह दृढ़ डोर है, जिससे बँधे हुए ये सब एक दूसरे के अनुसार परिभ्रमण कर रहे हैं।

कौन नहीं जानता कवियों के द्वारा प्रतिपादित नव रसों का तथा उनसे अनुरंजित विविध कलाओं का प्रभाव ? शान्त तथा मधुर रसों से अनुरंजित काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला तथा मूर्तिकला से मनुष्य ही

रह कर प्रयत्न किया जाय तो सिद्ध हो सकता है।

विशोका वा ज्योतिष्मति।

—योग-दर्शन १-३६

शोक रहित प्रकाशमय चित्त की अवस्था विशेष भी स्थिर करती है। यह सुषुम्ना-नाड़ी में ध्यान लगाने से होती है।

नहीं पशु-पक्षी तथा वृक्षादि भी मोहित हो जाते हैं। इन्हें सुनकर अथवा देखकर सभी का मन नाच उठता है। चुम्बक से खिंची हुई सुई की भाँति सभी किसी शक्ति से खिंचे चले आते हैं, पारस्परिक बैर भूलकर खिंचे चले आते हैं, सूखे वृक्ष बिना ऋतु फूल उठते हैं, असमय वर्षा होने लगती है, बुझे दीप जग उठते हैं, और रोग, मरी, दुर्भिक्ष जैसे महा-उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार शृंगार रस के प्रभाव से बड़े-बड़े ऋषियों का ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है। वीर रस के प्रभाव से कायरों तक की भुजायें फड़कने लगती हैं। रौद्ररस के प्रभाव से बड़े-बड़े साहसी भय से थर-थर काँपने लगते हैं और वैराग्य रस के प्रभाव से बड़े-बड़े भोगी तथा विलासी इस संसार को गोखुर के समान निस्सार देखने लगते हैं।

इसी प्रकार हृदय का व्यापक प्रभाव भी देखिये। दूर बैठे भी प्रेमीजनों के हृदय इस प्रकार एक हो जाते हैं कि एक के सुखी-दुःखी होने पर दूसरा सुखी-दुःखी होने लगता है, एक के याद करने मात्र से दूसरा खिंचा चला जाता है।

पवित्र हृदयों से निकली तरंगें वायु-मण्डल को पवित्र कर देती हैं और अपवित्र हृदयों से निकली अपवित्र। साधु-सन्तों के अथवा तीर्थ क्षेत्र या मन्दिर आदि धर्म-स्थानों के प्राप्त होने पर अपवित्र हृदयों में भी कुछ पवित्रता आ जाती है और इसी प्रकार विषयीजनों के अथवा मदिरा-गृह आदि स्थानों के प्राप्त होने पर पवित्र हृदयों में भी कुछ अपवित्रता प्रवेश करती प्रतीत होती है।

पवित्र स्थानों में अपवित्र व्यक्तियों का अधिक गमनागमन हो जाने से उनकी पवित्रता धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है और इसी प्रकार अपवित्र स्थानों में पवित्र व्यक्तियों के अधिक आवागमन से उनकी अपवित्रता धीरे-धीरे पवित्रता में परिवर्तित हो जाती है।

दुःखीजनों को देखकर हृदय द्रवित हो जाता है और गुणीजनों को देखकर प्रमोद से भर जाता है। गुरुजन एक दृष्टिमात्र से अथवा हाथ के स्पर्शमात्र से अपने शिष्य के हृदय को ऊपर मोड़ देते हैं। मध्यवर्ती शून्य यदि सर्वथा शून्य होता तो आप ही बतलाइये कि एक-दूसरे से विलग विभिन्न पदार्थों के भावों का यह पारस्परिक आदान-प्रदान कैसे सम्भव होता? इसलिये मानना पड़ेगा कि इस शून्य में भी कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति विद्यमान है जो पदार्थोंके इस पारस्परिक आदान-प्रदान की हेतु है। यह शक्ति उस-उस पदार्थ से विनिर्गत स्पन्द ही हो सकता है, क्योंकि ऐसा न होने पर क्रियायें एक-दूसरे से प्रभावित होकर स्वतन्त्र होतीं। जिस प्रकार एक बड़ी मशीन के सब पुर्जे पट्टों के द्वारा या गरारियों के द्वारा परस्पर एक-दूसरे से गठित होने के कारण एक-दूसरे के अनुसार ही कार्य करते हैं, स्वतन्त्र नहीं; इसी प्रकार मध्यवर्ती स्पन्द के द्वारा एक-दूसरे के साथ गठित होने के कारण ही ये सब एक-दूसरे के अनुकूल परिगमन करते हैं, निष्कारण नहीं।

श्री गुरुदेवजी के सार-गर्भित प्रवचन

❀ श्री डा० विजयसिंह द्वारा प्रेषित विवरण

श्री गोरखनाथजी के योग-साधना से पवित्र-स्थली आज का गोरखपुर, हिमालय तराई में स्थित है। विद्वान्, राजनीतिज्ञ, धर्म-परायण महन्त श्री अवेद्यनाथ तथा वयोवृद्ध भाई श्री उमापति चतुर्वेदी के बार-बार आग्रह करने पर चतुर्मास में अत्यन्त व्यस्त होने के पश्चात् भी आनन्द-कन्द श्री प्रभुजी ने दो रोज का कार्यक्रम दे ही दिया। भाद्र मास वैदिक काल से ही स्वाध्याय व साधना की दृष्टि से अपूर्व माना जाता रहा है। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में कहा है-

भाद्र मासे प्रोष्ठपदे प्रश्न,
ब्राह्मणानां विवित्सताम् ।
अयमध्याय समयः,
सामगानामुपस्थितः ॥

अर्थात्—भादों का महीना आ गया है। वेदों के स्वाध्याय की इच्छा रखने वाले ब्राह्मणों के लिए यही उत्तम समय है। सामगान करने वाले विद्वानों के भी स्वाध्याय का यही समय है।

"स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।" गुप्त रूप से सिद्धस्थल निवास करने वाले साधकों के स्वाध्याय के फलको देने हेतु परमानन्द प्रदाता श्री प्रभुजी का आगमन गत १६ सितम्बर को प्रातः ६ बजे गोरखपुर में हुआ। स्टेशन पर बालवृन्द, युवक-युवतियाँ, प्रौढ़-वृद्ध सभी अपने श्रद्धा-सुमन को हार रूप में सँजोये इष्ट की प्रतीक्षा में आतुर खड़े रहे। वैशाली ऐक्सप्रेस आई, लोग हर्षोल्लास से भर उठे। "आनन्द-कन्द सद्गुरुदेवजी की जय", "महाप्रभु श्री रामलाल की जय" के निनाद से प्लेटफार्म आलोकित हो उठा। श्री प्रभुजी के गाड़ी से उतरते ही लोगोंमें माल्यार्पण की होड़ लग गई। कुछ लोग सामान उतारने एवं स्टेशन के बाहर मोटर में उन्हें व्यवस्थित करने में लग गये। श्री प्रभुजी के साथ आये ब्र० पूरनदेवजी, ब्र० रामलालजी, ब्र० पुष्करजी, साधनानिष्ठ भाई भारद्वाजजी तथा भाई त्रिखाजी से लोग 'जय गुरुदेवश्री' का अभिवादन का आदान-प्रदान करने लगे।

श्री प्रभुजी, भाई चतुर्वेदी जी के आग्रह पर इनकी नई मारुति कार पर आरूढ़ होने की कृपा तथा अन्य सभी लोग गोरखनाथ मन्दिर से आये कार एवं स्टेशन-वैगन में चढ़कर मन्दिर पहुँचे, जहाँ श्री प्रभुजी का निवास होना था। मात्र दो दिन का अति

(पिछले पृष्ठ का शेष)

इस दृष्टि से देखने पर यहाँ वास्तव में कुछ भी शून्य नहीं है अथवा सब कुछ शून्य है। सर्वत्र सर्वदा स्पन्द की विद्यमानता होने के कारण कुछ भी नहीं है और स्पन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भी विद्यमान न होने के कारण सब कुछ शून्य है। विश्व-व्यापी यह स्पन्द ही सैद्धान्तिकों का 'प्रकृति' नामक तत्व है, जिसका उल्लेख अगले अधिकार में किया जाने वाला है। ■

लघु कार्यक्रम होते हुए भी हम सभी ने श्री प्रभुजी के इस अहैतुकी कृपा-सान्निध्य को पाकर धन्य भाग्य अनुभव किया।

प्रवचन–सार १६ सितम्बर

१६ सितम्बर का स्थान गोरखनाथ मंदिर के विशाल ग्रंथालय सभाकक्ष में, सायं ५ बजे श्री प्रभुजी मंच पर आसीन हुए। संस्कृत-भाषा-सम्मेलन शुरू हुआ। अखबारों के माध्यम से आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के आगमन एवं योग सम्मेलन (१७ सितम्बर) की अध्यात्म की बात भी प्रचारित हो चुकी थी।

आज के संक्षिप्त प्रवचन में श्री सद्गुरुदेव ने कहा कि—"मातृवान, पितृवान, आचार्यवान् पुरुषो वेद।" वही व्यक्ति ईश्वर को जानता है जो माता वाला, पिता वाला तथा आचार्य वाला होता है। सूक्ति के अर्थ को प्रकाशित करते हुए श्री प्रभुजी ने कहा—मातृवान् कौन होता है? जिस बालक की माँ पति परायणा हो, सुगृहणी हो, स्वाध्याय-रत हो, ब्रह्मचर्य को धारण करने वाली, एवं स्वस्थ निरोग हो। जब ऐसी स्त्री ऋतुकाल व्यतीत होने पर अपने स्वाध्यायी, चरित्रवान्, ब्रह्मचर्य धारण करने वाले पति से समागम कर गर्भाधान संस्कार से संस्कारित होती है तथा गर्भकाल में मंत्र-जप, पुराणादिक कथाओं का श्रवण-मनन करती है, इस काल में कभी क्रोधित नहीं होती, सतोगुणी, पुष्टि-दायक आहार, स्मृतिवर्धक आहार जैसे-ब्राह्मी, शंखपुष्पी, विद्युतलता तथा आंवला-परिपाक, घृत, दुग्ध आदि का सेवन करती रहे। सिनेमा, भोगपरायण ग्रंथ उपन्यास आदि जो रस प्रधान हैं उन्हें वह न देखे व पढ़े। ऐसी स्त्री के गर्भ में पूर्णरूपेण पुष्ट हुआ बालक ही मातृवान् कहा गया है।

जब ऐसे बालक वय प्राप्त करने पर अपने सदाचारी स्वाध्यायी पिता की आज्ञा एवं अनुशासन में प्रातः उठना, व्यायाम करना, स्वाध्याय करना सीखते हैं। तब उनके अन्तर जगत् का यथार्थ विकास होना प्रारम्भ हो जाता है। पिता अपने संरक्षण में बालक को सांसारिक वासनात्मक दृश्यों एवं प्रभवों से रक्षा करते हैं। ऐसा बालक युवावस्था में ब्रह्मचर्य से युक्त हो जाते हैं। उनका मन वासना भोगी नहीं हो सकता। ऐसा बालक ही पिता वाला कहा गया है।

ऐसे मातृवान, पितृवान बालक को कदाचित् शक्तिपात करने वाले सिद्ध सद्गुरुदेव जीवन में मिल जाय तथा अपने कड़े अनुशासन में रखकर प्राणायाम, आसन व योग-साधन करावें तो अल्प समय में ही वह बालक अपने प्रकाशावरण को क्षय करके जगमगा उठेगा। अपने जीवन में कृतकृत्य हुआ व्यक्ति ही समाज को कुछ दे सकता है। ऐसे व्यक्ति ही समाज में नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों को प्रति स्थापित करते हैं।

प्रवचन सार १७ सितम्बर

आज श्री प्रभुजी ने अपने सार-गर्भित आत्म-स्फुरित प्रवचन से मञ्चस्थ समस्त विद्वानों, सन्त-महात्माओं तथा उपस्थित जन समुदाय को शब्द-चित्र समुपस्थित करते हुए

अपने अध्यक्षीय भाषण में योग के यथार्थ स्वरूप को बताया। आद्यपूर्व वक्ताओं ने योग को अत्यन्त गूढ़, रहस्ययुक्त बताया था। किसी ने समाधि को कृपा साध्य बताया। भगवान् श्री ने कहा—पूर्व काल से ही योग-साधना की दो विधियाँ चली आ रही हैं। एक का आधार प्राण है व दूसरे का आधार मन है। इसे ही प्राण और मन के भेद से हठ-योग तथा राजयोग कहा जाता है, परन्तु प्राण और मन अन्योन्याश्रित है—

यत्र मनोलीयते तत्र प्राणोलीयते ।
यत्र प्राणोलीयते तत्र मनोलीयते ॥

प्राणायाम से मन निरुद्ध हो जाता है वहीं मनोनिग्रह से प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। कोई सदाचारी, ब्रह्मचर्य धारण करने वाला संयतेन्द्रिय व्यक्ति ही हठयोग का अधिकारी हो सकता है। प्राणायाम, नेती, बस्ती, धौती, नौली, खेचरी, भूचरी, वज्रोली, सहजोली, क्रियाओं में संयतेन्द्रीय व्यक्ति को ही सफलता मिलती है। असंयतेन्द्रीय व्यक्ति को असफलता के साथ दुष्परिणाम प्राप्त हुआ करते हैं। हठयोग से —प्राणजयता परिणाम स्वरूप:—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।" प्रकाशावरण नष्ट होने से विवेक ख्याति तथा ऐन्द्रिक सिद्धियाँ स्वभावतः साधक को प्राप्त होती हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसा ।

प्राण साधना से भूत जयता, अमरत्व, अणमादिक सिद्धियाँ प्राप्त कर योगी मुक्त-योगी बन जाता है। मुक्त योगी के बारे में जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में कहा है:—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

मुक्त योगी का भूत पर्यन्त पर अधिकार होता है। जिस स्थान से मैं यह बात बता रहा हूँ, यह स्थान ऐसे ही मुक्त योगियों से सम्बन्ध रखता है। भगवान मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ आदि मुक्त योगी हैं। वे आज भी जो कुछ हम कह रहे हैं, वे सुनते हैं। श्री-मत्स्येन्द्रनाथ के साथ आते हुए गोरक्षनाथ ने पहाड़ की शिला पर लघुशंका करके उसे जो सोने में बदल दिया था, यह सब कृतित्व मुक्त योगी द्वारा ही सम्भावित होता है।

परन्तु आज के समय में हमें हठयोग की साधना करने योग्य उत्तमाधिकारी पात्र दिखलाई नहीं पड़ते। ऐसे व्यक्ति दिखलाई नहीं देते जो संयतेन्द्रिय हों। पात्रता का अर्थ है—"कार्यारम्भ क्षमता।" कार्य करने की क्षमता न होने पर उत्तम साधन भी व्यक्ति सन्दर्भ से अनुपयुक्त होते हैं। अतः योग युक्त होने का एक दूसरा उपाय भी शास्त्रों में बताया गया है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन् ॥

हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। मन इन्द्रियों

के माध्यम से बाहरी नजारे, बाहरी शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श को ग्रहण करता है। यही भोग है। परन्तु जब कोई आँखों को बन्द करके अन्तर में दृश्य देखने लग जाये, कान बन्द करके अन्तर नाद श्रवण करने लगे, नाना दिव्य गन्धों को, चमड़ी दिव्य स्पर्शों की अनुभूति करने वाली हो जाये, तो यह सब अभ्यान्तर का बोध अपवर्ग के कारण बन जाते हैं। अभ्यान्तरिक नजारे व अन्य अनुभव शनैः शनैः साधना करते रहने पर मोक्ष के दाता बनते हैं।

एक साधक को शक्तिपात करने की सामर्थ्य वाले सद्गुरु मिले हों तो साधक उनके शक्तिपात के फलस्वरूप एकाग्र मन वाला हो जाता है। देखो! गोरखनाथ के शक्तिपात से राजा भर्तृहरि, गोपीचन्द्र आदि ध्यान, समाधि परायण हुए तथा मुक्त योगी, अमर योगी बन गए। अतः इस दूसरे विधि में मन्दाधिकारी भी अपने चित्त वृत्तियों को अष्टांग योग के विधि से चलकर, निरुद्ध करता हुआ समाधि को प्राप्त हो जाता है। तुम्हें इसके लिए पहले कल्पना से मूलाधार जहाँ पृथ्वी महाभूत है, गन्ध उसकी तन्मात्रा है तथा भगवान गणपति अधिष्ठातृदेव हैं, इनकी धारणा करनी होगी। धारणा क्या है? "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।" किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना ही धारणा है। धारणा में त्रिपुटी का भान बना रहता है। ध्याता, ध्येय, ध्यान यही त्रिपुटी है। धारणा का अभ्यास निरन्तर करते रहने से ध्यान की स्थिति आती है। तब ध्याता, ध्येय दो ही रहते हैं। समाधि में मात्र ध्येय ही भाषित होने लगता है। इस अवस्था में साधक अपने इष्ट को ही सर्वत्र अनुभव करता है। समाधि को प्राप्त हुआ साधक खुली आँखों जिधर दृष्टि डालता है उसे सब कुछ इष्टमय प्रतीत होने लग जाता है।

जैसा कि हमने बताया—इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों को मन द्वारा ग्रहण किया जाना भोग है, परन्तु जब वही विषय अन्तर जगत में आने लग जावें तो वे समाधि के जनक बनते हैं। भगवान पतञ्जलिदेव ने—

वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

कहकर तथा—

वितर्कं चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः।

अर्थात्—समाधि के दो भेद—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात तथा सम्प्रज्ञात की चार भूमिकायें वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत बतलाया है। वितर्कानुगत समाधि में साधकको अपनी भावनामयी दृष्टि से सांसारिक स्थूल विषयों का ही प्रत्यक्षीकरण होता है। पहाड़, झरने, मकान आदि अद्भुत अनुभव के नजारे आते हैं। साधना की तत्परता एवं निरन्तरता से आगे की भूमिकायें उपस्थित होती जाती हैं। विचारानुगत में साधक—

एतयैव सविचार निर्विचार च सूक्ष्म विषयाविख्याता।

अर्थात्—दिव्य लोकों के विषय साक्षात्कार होने लगते हैं। इस अवस्था में देवलोकों के प्रलोभन से साधक को बचना चाहिये। निर्विचार के पुष्ट होने पर अहंकार निर्मल हो उठता है, अतः साधक सदैव आनन्दानुबोध में डूबा रहने लग जाता है। इसके आगे महत्तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली अस्मितागत समाधि है। इस अवस्था में योगी अपने को ही सर्वत्र देखता है। अभ्यास की दृढ़ता से ऐसा योगी विवेक ख्याति को प्राप्त कर कैवलीभाव को प्राप्त होता है, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में जाना गया है। जो हमारे इस बताये विधि से योग-साधना को करेंगे, उन्हें प्रभु की कृपा प्राप्त होगी और वे अपने को कृतकृत्य बना लेंगे।

इन्हीं आशीर्वादिक वचनों के साथ श्रीप्रभुजी ने अपनी वाणी को विश्राम दिया था।

अनाथनाथ श्री सद्गुरु भगवान् की ओजस वाणी के प्रभाव में श्रोतागण अभिभूत हुए योग-साधना के रहस्य को आत्मसात् करते रहे। ऐसी अवस्था में महाकवि की वाणी स्मरण हो आई—

मेघा समुद्भूतसमुद्र नादा,
महाजलौघैर्गगनावलम्बा:।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी—
मही, च कृत्स्नामयवाहयन्ति ॥

भादों मास के ये मेघ अपनी गर्जना से समुद्र के कोलाहल को तिरस्कृत कर अपने जलके महान् प्रवाह से नदी, तालाब, सरोवर, बावली तथा समूची पृथ्वी को आप्लावित कर दिया है।

ऐसे ही श्री प्रभुजी अपने प्रवचन में अमृत की निरन्तर वर्षा करते रहे और जन-मानस उनकी कृपा-वर्षा में सर्वाङ्ग भींग रहा था और अपनी पात्रता के आधार पर इस परम ज्ञान को ग्रहण करता हुआ आनंद को प्राप्त कर रहा था।

एषणा—परित्याग

परित्याग, 'इदन्न मम' की भावना वस्तुतः बड़ी दिव्य है और प्रिय भी, विशेषतः एक मुमुक्षु के लिए तो अपरिहार्य रूप से 'अपरिग्रही' होकर यथालाभ में ही तुष्ट रहना आवश्यक है। 'परित्याग' का उपदेश प्रायः सभी सद्ग्रन्थों में मिलता है जो कि सुनने में कर्ण-प्रिय, कथन में सरल और छोटा होता हुआ भी, करनी में अतिकठिन—दुष्कर कर्म है—''त्याग-वैराग्य का पथ दुरूह है, विशेषतः विषय-विकारों का, उत्कृष्ट 'एषणाओं' का परित्याग कर देना—इन्हें निर्मूल कर देना। परन्तु इस 'सदाचार' का अनुगमन किए बिना कल्याण हो जाना भी सम्भव नहीं है। आत्म-कल्याण के इच्छुक जनों को परमानन्दमय शान्तधाम 'अपवर्ग' तक पहुंचा देने वाला 'श्रेयपथ' तो भिन्न। कोई हीन-हृदयता लिए उपासक से त्याग-परित्याग-सर्वथा निवृत्ति पूर्ण अनासक्ति की मांग करता है, वह भोग अथवा विषयरूप-जगत् के साथ-साथ शरीर तक में अनासक्ति की भावना को चरम-सीमा तक पहुंचा देने का आदेश देता है न कि किसी दोष-विशेष के परित्याग कर देने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

जिन सभाओं या समाजों में अनुभवी वृद्ध न होकर अवृद्धसेवी तथा अनुभव हीन लोग भर लिए जाते या उन्हीं का बोलबाला हो जाता है, वे सभायें सभा, और वे समाज सभ्य समाज नहीं कहे जा सकते। वे वृद्ध वृद्ध नहीं होते, जो धर्म या न्याय की बात मुँह पर नहीं ला सकते। वह धर्म धर्म नहीं है, जिसमें सत्य नहीं है, वह सत्य सत्य नहीं है जिसमें छल का मिश्रण होता है।

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इतिसंचिन्त्य कर्माणि प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा ॥

बुद्धिमान मनुष्य अपने उपस्थित कार्य के विषय में मैं इस काम को करूँगा तो उसका क्या परिणाम और प्रभाव होगा ? तथा न करूँगा और विपरीत करूँगा तो उसका क्या परिणाम और प्रभाव होगा ? यह सब पूर्णाङ्ग रूप से विचार चुकने पर उचित समझे तो करें और उचित न समझे तो न करे।

शुचित्वं त्याग शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद् गुणाः ॥

निष्कपटता, मित्र के लिए त्याग, मित्र के विपद्वारण के लिए शौर्य, सुख-दुःख में समानता, उसके हित साधन के लिए चातुर्य अनुराग तथा सत्यता ये मित्र के आठ गुण हैं।

प्राणैरपि हिता वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम् ।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्री महाव्रतम् ॥

प्राणपण से भी हित चेष्टा करना, द्रोह तथा छल कपट से व्यवहार न करना, मित्र का अपने समान प्रिय करना, यही मैत्री नामक महाव्रत है।

पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटी करोति।
आपद्गतं न च जहाति ददाति काले, सन्मित्र लक्षण मिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

पाप से रोकता, हित में लगाता, गोपनीय को छिपाता, गुणों को प्रकट करता, विपत्ति में फँसे को नहीं त्यागता, सहायता के सर्वोत्तम समय पर सहायता करता है, उसी को सन्त लोग सन्मित्र कहते हैं।

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत् सुखः दुखयोः सह भवेत् मित्रेणतद्दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धि समये द्रव्याभिलाषाकुलास्,
ते सर्वत्र मिलन्ति तत्वनिकष ग्रावा तु तेषां विपत् ॥

जो मित्र नयन को प्रीति रस तथा चित्त को आनन्द देने वाले, मित्र के सुख-दुःख को अपने ही सुख-दुःख मानने वाले हों, ऐसे मित्र संसार में दुर्लभ होते हैं। जो समृद्धि के दिनों में द्रव्याभिलाषा से आकुल होने वाले मित्र नामक जन्तु होते हैं, ऐसे लोग तो संसार में बहुत मिल जाते हैं। परन्तु विपत्ति उन स्वार्थी मित्रों की कसौटी बन जाती है और उनके मित्रता के ढोंग का भंडाफोड़ कर देती है।

षड्दोषाः पुरुषेण हातव्या भूतिमिच्छता ।
निन्द्रातन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

कल्याण कामी मनुष्य इस संसार में अतिनिद्रा (स्वास्थ्य की आवश्यकता से अधिक निद्रा) तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता ये छः दोष छोड़ दे।

अलसो मन्दबुद्धिश्च सुखी च व्याधिपीडितः ।
निद्रालुः कामुकश्चैव षडेते कर्म गर्हिताः ॥

आलसी, मन्द बुद्धि, सुखासक्त, रोगी, निद्रालु तथा कामुक ये छः लोग निन्दित कर्मी माने गए हैं।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥

मनुष्य को सत्य, दान, अनालस्य, अनसूया, क्षमा तथा धृति ये छः गुण कभी न त्याग ने चाहिए।

जीवन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोयं तेषु कृत्सनस्त्वयाजितः ॥
परवानर्थ संसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः ।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवेति विधेयताम् ॥

तुम अपने ही देह में रहने वाले चक्षु आदि इन्द्रिय रूपी घरेलु दुर्जय शत्रुओं को विजित बनाकर देखो। यदि तुम उन्हें जीतकर रखोगे तो निश्चय जानो कि तुम विश्व विजयी बन चुकोगे। अवशेन्द्रिय मानव स्वार्थ साधन में पराधीन नीच वृत्ति निर्लज्ज होकर पशुओं के समान दूसरों की अधीनता में आ जाता है। ●●

सर्वाधार सत्य

श्री शिवा भावे

सत्य विश्व का यानी सारे ब्रह्माण्ड का मूल है, मूल कारण यानी मूल आधार है, विश्व कार्य है और उसका मूल कारण सत् है। सत् में से विश्व पैदा हुआ है।

सत्य धर्म का आधार बल है। बल का अर्थ है प्राण आधार। सत्य के बिना धर्म शून्य है, निष्प्राण है। सारे विश्व का आधार सत्य है तो धर्म समाज के लिए सेतु के समान है, सेतु खम्भों पर खड़ा रहता है। खम्भों के बिना पुल टिक नहीं सकता। इसी प्रकार सत्यरूपी खम्भे के बिना धर्मरूपी सेतु खड़ा नहीं रह सकता। जीवन के जो भी सच्चे उत्कृष्ट सिद्धान्त और ध्येय हमारे सामने हैं, उनका आधार सत्य है अर्थात् सारा जीवन सत्य पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। सत्य केवल व्यक्ति के ही जीवन का आधार नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति, समाज और विश्व तीनों का आधार है। इसलिए सत्य परमाधार माना गया है। यह आधार श्रेष्ठ आधार है।

× × ×

सत्य को स्पष्ट करना है तो यह काम वाणी से ही सम्भव है। सत्य को वाणी से व्यक्त करने में, उसे भाषाबद्ध करने में वाणी के दोष मिट जायेंगे; यानी वाणी में से असत्य रूपी विकार निकल जायेंगे। सत्य को प्रगट करने में वाणी को सत्य का अभ्यास हो जायेगा। वाणी का सारा व्यवहार सत्य के आधार पर चलेगा और असत्य का उच्चारण करना अशक्य हो जायेगा।

वाणी अर्थात् भाषा का आधार चिन्तन-मनन है। वाणी में सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए चिन्तन-मनन में शक्ति को दाखिल करना होगा। इससे वाणी में सत्य प्रकट होगा, निर्विकारता व्यक्त होगी।

जीवन में सत्य को उतारने के प्रयत्न के फलस्वरूप सत्य का दर्शन करें, सत्य का अनुभव करें और उसे आचरण में लाने का पूर्ण प्रयत्न करें।

सत् से सत्य बना है, सत् और सत्य में भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। सत्य का अर्थ है विद्यमान, नित्य स्थायी। सत् में सत्य ओतप्रोत है।

चूँकि यह सत्य ही सारे ब्रह्माण्ड का मूल कारण है। इसलिए सत्य से भिन्न जो भी है वह तुच्छ है अर्थात् सारा जग शून्य है, मिथ्या है, असत्य है। कारण को छोड़कर कार्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है इसलिए सत्य रहित शून्य है। भासमान होने पर भी उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। सत्याचरण से ही मनुष्य सच्चिदानन्द की प्राप्ति कर पाने में समर्थ हो पाता है।

गुरु-तत्व
और
गुरु-परिवार

❀ ब्र० श्री शिवोम्प्रकाश

योग-दर्शन के समाधि पाद में ईश्वर सम्बन्धी सूत्रों में ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है। वह पुरुष तो है अर्थात् वह भी पुरी (शरीर) की सीमाओं में तो आ जाता है, किन्तु उसकी विशेषता यह है कि वह सीमाओं में बद्ध नहीं होता। जहाँ सामान्य जीव पंच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश), अपने द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों तथा कर्मों के फल से बँधा आवागमन के चक्कर काटता फिरता है। वहाँ वह पुरुष-विशेष इन संस्काराशयों से अछूता रहता है। पर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर जहाँ जीव-भाव है (जिसके कारण उसका जीवत्व है), वहीं साथ ही शुद्ध आत्म-तत्वरूपी पुरुष-विशेष भी विद्यमान है। जहाँ जीव जगत् रूपी माया की तरंगों से स्वयं आन्दोलित हुआ करता है, वहीं वह पुरुष-आत्मा अपने निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप में स्थित विराजमान है। इसी बात को उपनिषद् में एक वृक्ष पर दो यमज पक्षी कहकर समझाया गया है, जिनमें से एक पक्षी तो केवल देखा करता है, किन्तु दूसरा खट्टे-मीठे फल खाकर सुखी-दुःखी हुआ करता है।

जीव जगत् की ओर इतना आकर्षित हुआ तथा विषय के आनन्द रूपी विष में सुखी मानकर दुःख में इतना फँसा हुआ होता है कि वह अपने पास ही स्थित चिर सुख-शान्ति की खान अपने शुद्ध आत्म-तत्व पुरुष-विशेष की ओर अभिमुख ही नहीं होता। किन्तु जब कभी इन विषयों के थपेड़े खाता हुआ जीव जगत् की ओर से विषादयुक्त होता है, तो फिर सुख की खोज के लिए छटपटाता है और विषयों की ओर से विरक्त होने लगता है। जहाँ उसका तनिक सा भी ध्यान साथ ही स्थित पुरुष-विशेष की ओर गया कि फिर वह उसकी ज्ञान एवं आनन्ददायक आभा से मोहित हुआ उसी की ओर अभिमुख हुआ चला जाता है। उस आत्म-तत्व अथवा पुरुष-विशेष रूपी ईश्वर को, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सीमाओं में बद्ध नहीं समझना चाहिए। उसमें सर्वज्ञता बीज रूप से विद्यमान है अर्थात् जब जीव उस ईश्वर की ओर अग्रसर होता है तो पहले तो उसका अपना जीवत्व समाप्त होने लगता है और फिर निरतिशय सर्वज्ञता का बीज वृक्ष बनने लगता है; अथवा यों कहें कि ब्रह्म में लीन होकर उसके आत्मा में ब्रह्मत्व प्रकट होने लगता है।

केवल इतना ही नहीं, वह आत्म-तत्व शरण में आये हुए जीवको जीवत्व से उबारने में उसकी सहायता पथ-प्रदर्शन, शक्ति एवं प्रत्यक्ष आनन्द भी प्रदान करता है, तभी तो उसे गुरु कहा गया। यदि सच पूछा जाय तो ईश्वर की माया बड़ी ही दुस्तर है। उससे तरने के लिये बिना ईश्वरीय शक्ति के सहारे के समर्थ ही नहीं हुआ जा सकता। जहाँ एक

और ईश्वर की माया जीवों को जगत् रूपी चक्कर में भरमाती फिरती है, वहीं स्वयं ईश्वर ही अपने शुद्ध स्वरूप में प्रत्येक जीव में बैठा हुआ गुरु-कार्य भी कर रहा है अर्थात् माया से बचने के लिए ईश्वरीय प्रकाश भी जीव के अन्दर ही आलोकित है। अनादि-काल से माया के साथ यह गुरु-कार्य भी चलता आ रहा है। ऐसा कोई समय नहीं, जब यह ज्ञान प्रकाशित न रहा हो, तभी तो योग-दर्शन कहता है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

अर्थात् वह पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। काल से भी उसका अवच्छेदन (नाश) नहीं होता। काल सबको खा जाता है, किन्तु इस गुरु-कार्य का क्रम निरन्तर अबाध गति से चलता ही रहता है। यहाँ पर गुरुओं का भी गुरु होने की बात की ओर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है। गुरुओं में वास्तविक गुरुत्व इसी ईश्वर-तत्व के कारण है। क्लेश, कर्म एवं संस्काराशय से अलिप्त उस गुरु से जिसने अपने अन्तः में तादात्म्य स्थापित कर लिया है, उसी के शरीर के माध्यम से उस पुरुष-विशेष गुरु द्वारा जीवों के जीवत्व का ब्रह्म में विलीनीकरण रूपी गुरु-कार्य संपादित हो पाना शक्य है। जिस मनुष्य के अन्तः का प्रकाश स्वयं तिरोहित है, वह अन्य जीवों के कल्याण में भी सहायक नहीं हो सकता।

इस प्रकार ईश्वर-तत्व, गुरु-तत्व और आत्म-तत्व की अभिन्नता है। तभी तो कहा है—

ईश्वरोगुरुरात्मेति मूर्ति,
भेद विभागिने ।
व्योमवद्व्याप्त देहाय,
दक्षिणामूर्तये नमः ॥

ईश्वर, गुरु और आत्मा एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं; जो शरीर में आकाशवत् व्याप्त है। उस दक्षिणा मूर्ति को नमस्कार है।

गुरु-परिवार

गुरु के द्वारा विभिन्न लोगों को दीक्षित करते रहने से कुछ काल के पश्चात् एक गुरु-का निर्माण हो जाता है।

इस बात को बार-बार दोहराने की आवश्यकता नहीं कि गुरु-दीक्षा के द्वारा गुरु-मूर्ति से एक शक्ति शिष्य में प्रवेश करती है। सभी शिष्यों में वही एक गुरु-शक्ति होने के कारण एक बन्धुत्व का नाता स्थापित हो जाता है। गुरु-शक्ति का विकास शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति का प्रतीक है, जिसके लिए साधन के अभ्यासादि के अतिरिक्त शिष्य समुदाय का परस्पर सद्भाव भी विशेष महत्व रखता है। सद्भाव से सारे शिष्यों की शक्ति मिलकर एक सामूहिक शक्ति का रूप धारण करती तथा लाभ पहुँचाती है, किन्तु इसके विपरीत आपस में द्वेषभाव एवं वैमनस्य हो तो वही शक्ति एक-दूसरे को काटने-गिराने, जोड़-तोड़ करने आदि में ही नष्ट होती रहती है। ऐसी स्थिति में ईर्ष्या-द्वेष तथा भेद-भावादि (जिनका निष्कासन होना आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य व आवश्यक है)। घटने के स्थान पर और अधिक बढ़ते हैं एवं इस

प्रकार गुरु-परिवार के सदस्य उन्नति के स्थान पर अवनति ही अधिक करते हैं। जिस प्रकार गुरु-शिष्य सम्बन्ध में श्रद्धा मुख्य कड़ी है, उसी प्रकार गुरु-बन्धुओं में परस्पर सद्भाव ही वह आधार है, जिस पर गुरु-परिवार का विशाल भवन खड़ा होता है।

उदाहरणार्थ, यदि चार व्यक्तियों में एकता हो तो उनमें से हर एक मनुष्य चार व्यक्तियों की शक्ति रखता है। यदि बाहर का कोई व्यक्ति उनमें से किसी एक के साथ झगड़ पड़े तो उसे चार व्यक्तियों की संगठित शक्ति का मुकाबला करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। इसी प्रकार उनमें से किसी भी एक का कोई काम चारों द्वारा बड़ी आसानी से, कुशलतापूर्वक तथा बहुत कम समय में किया जा सकता है। यदि इसी बात पर और अधिक सूक्ष्म स्तर पर विचार किया जावे तो देखा जा सकता है कि चारों व्यक्तियों की एकता के कारण प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह, कार्य-क्षमता, संकटों का सामना करने की शक्ति तथा निर्भयतादि गुण कई गुना बढ़ जाते हैं।

दूसरी ओर वे चारों व्यक्ति यदि आपस में ही फूटे हों तो बाहर के किसी व्यक्ति का सामना करने की बात ही क्या? उनको आपस की सिर फुटव्वल से ही अवकाश प्राप्त नहीं होता और मन में भी उत्साह-हीनता, ईर्ष्या-द्वेष, हर समय का भय, सन्देहात्मक वृत्ति आदि बने रहते हैं। हर एक की उन्नति रुक जाती है तथा किसी भी ओर से प्रहार होकर हानि का भय बना रहता है। यही हाल शिष्यों के अन्दर गुरु-प्रदत्त शक्ति के सद्भावना द्वारा पुष्ट होने अथवा परस्पर के वैमनस्य द्वारा विघटित होने पर होता है। अतः जिस प्रकार गुरु के प्रति श्रद्धा, गुरु-सेवा, अभ्यासादि साधन के आवश्यक अंग हैं, उसी प्रकार परस्पर सद्भाव भी अनिवार्य है। किसी गुरु-परिवार में निम्नलिखित कुछ बातें सद्भावना बनाये रखने के लिए उपयोगी हो सकती हैं—

गुरु-परिवार के प्रत्येक सदस्य को गुरु-कृपा प्राप्त करके उस परिवार में सम्मिलित होने का उद्देश्य 'पारमार्थिक उत्थान' ही सम्मुख रखना चाहिए। इस दृष्टिकोण के रहते कई छोटी-मोटी बातों का महत्व हट जाता है। जहाँ कुछ जन-समुदाय एकत्रित होगा, वहाँ मतभेद होना स्वाभाविक ही है। भ्रान्तियाँ भी हो सकती हैं, दूसरे के विचारों को समझने में भूल भी हो सकती है तथा कई बार स्वतः हमसे अथवा दूसरों से कुछ भूलें भी हो सकती हैं। यदि कोई ऐसा अवसर आ भी जावे तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर गुरु-परिवार में सद्भावना बनाये रखते हुए उसे सम्हालना अत्यन्त सरल हो जाता है अन्यथा नगण्य बातों के ऊपर ही गुरु-बन्धु एक-दूसरे से टकराकर अपनी तथा दूसरों की वृत्ति को विचलित करने का कारण बनते हुए, सद्भावना क्षीण करते हुए गुरु-शक्ति से लाभान्वित होने से वंचित रह जाते हैं।

यदि गुरु-बन्धुओं में वैमनस्य का विषय

खड़ा हो भी जाय, तो उसे अपनी मान प्रतिष्ठा का विषय नहीं बना लेना चाहिए। ऐसे समय मनको इसप्रकार समझाना चाहिए- "रे मन ! विचार कर ! तू यहाँ क्या उद्देश्य लेकर आया है ? तू यहाँ इस परिवार में कोई बड़ा नेता, बड़ा महात्मा या कोई बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति कहलाने के लिए सम्मिलित हुआ था अथवा पारमार्थिक लाभ के लिए ? साधक को महात्मा दिखाने का प्रयत्न नहीं करना, अपितु वास्तविक महात्मा बनना है। गुरु-घर में तो मन को माँजना है, अहङ्कार को बढ़ावा देकर और तमोयुक्त नहीं करना- इत्यादि। यदि किसी गुरु-बन्धु से कुछ अनुचित हो भी जाय, तो उससे मन की निर्मलता की आशा करने से पूर्व ही अपने मन में उसके प्रति सद्‌भावना पैदा करनी चाहिए। अपने द्वारा कोई भूल हो जाने पर तो शीघ्रातिशीघ्र उसका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए, इसमें मानहानि नहीं, अपितु बड़प्पन ही प्रकट होता है।

एक ही गुरु परिवार के सदस्यों का अलग-अलग गुटों में विभक्त हो जाना उस परिवार के आध्यात्मिक वातावरण को शिथिल करने में बड़ा सहायक होता है, क्योंकि जब यह गुटबन्दी अधिक विकसित रूप धारण करने लगती है तो साथ-साथ 'धर्म से बड़ा प्यारा' की भावना भी उत्पन्न होकर बढ़ने लगती है। उस समय यदि अपने गुट का सदस्य अनुचित पक्ष पर भी हो, तो भी उसका पक्ष ही लिया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में साधक जो साधन कर सकता है, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं। उसकी मनोदशा कहाँ तक साधनानुकूल रह सकती है ? सारे परिवार को एक ही घटक मानकर, प्रत्येक गुरु-बन्धु से अपना आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित कर प्रत्येक की उन्नति की हार्दिक इच्छा रखकर सद्‌भावना बनाने में योग देते हुए अपने तथा दूसरे साधकों के अन्दर गुरु-शक्ति को विकसित होने का अवसर देना चाहिए। यह ठीक है कि कुछ सदस्यों के साथ हमारा स्वभाव, रहन-सहन, साधनक्रम तथा परिस्थितियाँ तालमेल खाने के कारण अधिक सम्पर्क बढ़ जावे, किन्तु इस बात का तो ध्यान रखना ही चाहिए कि वह मेल मिलाप दूसरे गुरु-बन्धुओं के प्रति किसी मोर्चा बन्दी की भावना उद्‌भूत करने का कारण न बनने पावे।

गुरु-परिवार की विशालता के साथ-साथ माया का फैलाव भी बढ़ने लगता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण छोड़कर साधक का उस माया से मोहित हो जाना सम्भव है। हो सकता है कि साधक अपने गुरु-परिवार के उन मायावी साधनों से निजी रूप में लाभान्वित होने के संस्कार ले बैठे। ऐसी अवस्था में वह किसी न किसी प्रकार अपनी महत्ता बनाये रखने तथा उन साधनों से लाभान्वित होते रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है और स्वार्थ हित रक्षा के लिए कूट नीति का सहारा ले सकता है। यदि वह अपनी इस मनोवृत्ति के परिणाम पर विचार न करे तो गुरु-परिवार में व्याप्त सद्‌भावना का सङ्कट

में पड़ना स्वाभाविक है। अतः इस मनोवृत्ति से बचना ही साधक एवं गुरु-परिवार दोनों के लिए कल्याणकारी है। दूसरे गुरु-बन्धुओं की आध्यात्मिक उन्नति देखकर मन में द्वेष भावना का उदय हो उठना भी कोई असम्भव बात नहीं। यदि इस प्रकार का द्वेष हृदय में उत्पन्न हो जावे तो अपने आपको इस प्रकार समझना चाहिए—"यदि मेरे गुरु-बन्धु उन्नत हो रहे हैं, तो यह गुरु-शक्ति के कल्याणकारी होने का ही प्रमाण है। जो शक्ति मेरे गुरु-बन्धु का कल्याण कर रही है उसी का आशीर्वाद मुझे भी प्राप्त है। अतः इससे तो उस गुरु-शक्ति पर साधक के श्रद्धा, विश्वास और भी बढ़ने चाहिये और दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न होना चाहिए। यदि मेरी उन्नति नहीं हो रही तो इसमें मेरे संस्कार, विचार अन्तःकरण में छिपी वासना एवं साधन की शिथिलता ही कारण है। मुझे भी अपनी साधना को निरंतर सुदृढ़ रूप देते हुए और अधिक धैर्य युक्त उत्साह से तथा और अधिक श्रद्धा से लग जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि द्वेष को मन में स्थान दिया तो वह मेरी अवनति का ही कारण होगा। यदि इस प्रकार के विचारों द्वारा साधक अपने साधन तथा गुरु-परिवार में सद्भावना की रक्षा करता रहे तो कितना अच्छा हो।

इसी प्रकार यदि किसी साधक की आध्यात्मिक उन्नति अपेक्षाकृत अधिक हो रही हो, या उसे कुछ ऐसे अनुभव होते हों जो दूसरों को नहीं होते, तो इसमें उसे अभिमान न करते हुए गुरु-बन्धुओं के सामने अपना बड़प्पन प्रदर्शित करने से बचना चाहिए। यदि इस विषय में कभी किसी चर्चा का विषय आ भी जाय तो इस प्रकार नम्रता से तथा गुरु-कृपा को ही श्रेय देते हुए बात करनी चाहिए जिसमें अहंकार न टपकता हो। यदि विचार करके देखा जाय तो गुरु-परिवार में सद्भावना बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही बढ़ता रहता है अर्थात् जो जितना अधिक उन्नत है, वह गुरु-बन्धुओं में ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्यादि हटाकर सद्भावना बनाये रखने का भार उतना ही अधिक वहन करता है, जिसके लिए उसे दूसरे गुरु-बन्धुओं के साथ प्रेम का व्यवहार, अन्यों के साधन में सहायता तथा दूसरे उचित उपायों द्वारा काम लेना पड़ता है। जो स्वयं ईर्ष्या-द्वेषादि तथा गुटबन्दी की दलदल से अलग हो, वही तो दूसरों को भी उससे बचाने में सहायक हो सकता है।

साधक के मन में 'अपने लिए गुरु-परिवार में विशेष स्थान' की इच्छा भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोगों में तो स्वभावतः ही अपना महत्व प्रदर्शित करने का रोग होता है और कई यह समझ कर कि "मैंने इतने वर्ष गुरु की सेवा की है। जितनी कठिन सेवा मैंने की है, और कौन कर सकता है? मैं सबसे पुराना शिष्य हूं। मैं सबसे विद्वान् शिष्य हूं। मैं सबसे उन्नतिशील साधक हूं। मेरे ऊपर गुरु की सबसे अधिक कृपा है।" अपने लिए विशेष स्थान की आशा रख सकते हैं तथा

प्रत्येक बात में अपनी ही बात माने जाने की अभिलाषा का पोषण कर सकते हैं। ऐसे सब विकार किसी भी साधक की अवनति का कारण तो हैं ही, साथ ही साधना के प्रतिकूल परिस्थितियाँ बनाये रखने में भी सहायक हैं।

गुरु शिष्यों पर कृपा करके, गुरु-परिवार का निर्माण उनके आध्यात्मिक उत्थान के लिए करते हैं न कि दूसरे लोगों से वाद-विवाद खड़े करने के लिए। किन्तु प्रायः साधक दूसरे महात्माओं के शिष्यों तथा अन्य साधना-अवलम्बियों के साथ वाद-विवादमें उलझे रहते हैं। अपना उद्धार तो होता नहीं, जगत् कल्याण का बीड़ा उठा लेते हैं। हमारे गुरु जैसा बड़ा महात्मा दूसरा कोई नहीं, हमारे साधन से ऊँचा कोई साधन नहीं, हमारी ऐसी आत्म-स्थिति होती है, ऐसे अनुभव होते हैं। अमुक महात्मामें अमुक-अमुक अवगुण हैं, वह दूसरों का क्या कल्याण कर सकता है?' आदि बातों के ऊपर समय नष्ट करके साधक अपनी मनो वृत्ति ही बिगाड़ लेते हैं, जिससे अपने गुरु-परिवार के अन्दर भी वातावरण गरम रखने का स्वभाव ही बना लेते हैं।

जिस प्रकार पिता अपने पुत्र में परस्पर सद्भावना, उनकी उन्नति तथा उनको देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार अपने शिष्यों में सद्भावना, उन्नति की लगन तथा साधन-निष्ठा देखकर शिष्यों से भी अधिक स्वयं गुरु को प्रसन्नता होती है। गुरु के प्रसन्न होने पर, गुरु के अन्तः से शिष्यों के प्रति एक शक्ति उद्भूत होकर उनके साधन में सहायक होती है, जिसके कारण शिष्य के मनमें गुरु के प्रति श्रद्धा भी बढ़ती है। किन्तु यदि शिष्य वर्ग में वैमनस्य फैला हो तो गुरु द्वारा प्रदत्त पहले की शक्ति भी अपेक्षित कार्य नहीं। जिसका प्रभाव शिष्यों की श्रद्धा पर भी पड़ता है। इस प्रकार आध्यात्मिक लक्ष्य, जिसके लिए गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, धरा का धरा रह जाता है। अतः गुरु-भक्त साधकगण इस विषय के महत्व का विचार कर अपने कर्त्तव्य का निर्णय करें।

—ॐ—

❀ मन्त्र जप का महत्व ❀

प्राण शक्ति से भरपूर भाव संचलित ध्वनि समूह का नाम मन्त्र है। मन्त्र की डोरी पकड़कर साधक अन्तर्जगत में प्रवेश कर विमर्श रूप अनुसंधान करता है। मन्त्र द्वारा चित्त में स्फुरण उत्पन्न होता है। इसी दृष्टि से शिव सूत्र के द्वितीय, उन्मेष के प्रथम सूत्र में कहा गया है कि—'चित्तम् मन्त्र।' अर्थात्—अन्तरात्मा का विमर्श करने वाला चित्त मन्त्र रूप हो जाता है। जब मन्त्र चित्त को गतिशील बना देता है तो मन्त्र समष्टि चेतना को प्रभावित करता है। आध्यात्मिक साधना में मन्त्र के रूप में आदि शब्द, 'शब्द-ब्रह्म' तथा आदि नाद का बहुत उपयोग है।

—आचार्य श्री नरहरि शर्मा

तप और साधना के धनी
श्री सत्यप्रकाश बंसल

❀ श्री तुंगेश्वरानन्द शास्त्री

हमारे पूज्य गुरु-भाई सत्यप्रकाश बंसल तपोनिष्ठ, श्री गुरु-चरणों में अटूट श्रद्धावान् यम-नियमों के पूर्णतया पालन करने वाले, गत ३० अक्टूबर, ८६ को अपने नाशवान् शरीर के संस्कारों का भुगतान करके हमारे लिए अपने साधक जीवन के पवित्र आदर्श छोड़कर उस अज्ञात आलोक में विलीन हो गये हैं, जहाँ तमस का कोई अस्तित्व नहीं होता।

आदरणीय भाई सत्यप्रकाश बंसल का और मेरा सम्पर्क सर्व प्रथम माजरा नामक ग्राम (हि० प्र०) में पूज्य भाई सत्यप्रकाश शास्त्री के निवास-स्थान पर लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व हुआ था। माजरा शास्त्री का निवास उन दिनों हमारे लिए प्रभु-चरणों के प्रेम का स्रोत था। शास्त्रीजी के कथनानुसार श्रीबंसल जी एक जिज्ञासु के रूप में संध्या की पुस्तक लेकर मेरे पास आये। संध्या के विनियोग आदि संस्कृत शब्दों का अर्थ पूछने लगे और साथ ही सांसारिक दुःखों से संतप्त मन से अपनी धर्म-जिज्ञासा प्रकट करने लगे। मैंने उनसे कहा—"जाकी जिससे प्यास बुझाय" वाली बात है, परन्तु शास्त्रोक्त तथा सर्वसम्मत मत के अनुसार योग ही ऐसा मार्ग है, जिससे मनुष्य का हर तरह से कल्याण ही कल्याण होता है। वैसे तो संध्या का अर्थ भी योग ही है और ध्येय भी एक ही है, परन्तु लम्बा मार्ग है यह। 'सिद्धयोग' ही एक ऐसा मार्ग है जो सुगम और शीघ्र लक्ष्य पर पहुँचाने का मार्ग है। इसी प्रसंग में मैंने अपने गुरुदेव का परिचय दिया और महाप्रभु के कुछ अलौकिक चरित्र भी सुनाये। संस्कारवश श्रीबंसल प्रभु-चरणों में आये। तत्काल ही यम-नियम का पूर्णतया पालन करते हुए श्री प्रभु-चरणों के अनन्य भक्त बन गये।

उसी समय माजरा में एक दिन उनकी साधना का एक अलौकिक परिणाम देखने में आया। बंसल जी प्रभु आरती करके शीघ्र बाहर आये तथा-विभोर होकर श्री परमप्रभु रामलालजी की जय, सद्गुरुदेव की जय, इस प्रकार आँखें बन्द करते हुए नाहन जाने वाली सड़क पर ही सांसारिक चेतना खोकर ध्यानस्थ हो गये। लोगों की भीड़ चारों ओर जमा होने लगी। तभी नाहन से एक बस आयी। लोगों की भीड़ देखकर बस रुकी, उसी बस में भाई लालसिंह भी थे। उन्होंने तुरन्त उतरकर भाई बंसल की स्थिति को जानकर प्रभुजी की जय आदि नारों के उद्घोष करते हुए किसी तरह उन्हें उठाकर घर लाये। काफी समय बाद भाई बंसल को देह का आभास हुआ। कुछ वहाँ आजीविका के

साधन के लिए एक छोटी लोहे की दुकान की। दुकान में भाईजी प्रायः आँखें बन्द किये हुए बैठे रहते थे और सत्यता का पालन करते हुए दुकानदारी करते रहते थे। जो भी भिखारी या माँगने वाले आये उन्हें कभी भी खाली हाथ नहीं जाने देते थे। अगर कोई प्रभु-प्रेमी गुरु-भाई आ जाय तो दुकान ही बन्द हो जाती थी उनके आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी नहीं रखते थे। उस दिन वहाँ प्रभु कीर्तन अवश्य होता था। दुकान की तरफ अधिक ध्यान न देनेके कारण दुकान की आय बहुत कम हो गई, यहाँ तक कि मकान का किराया भी दुष्कर हो गया। जब भी मैं भाई बंसलजी को मिलता था, उनकी एक ही बात थी; प्रभुजी की इच्छा से सब ठीक है, उनकी बड़ी कृपा है, उनके चरण मुझे मिल गये, इससे अधिक क्या हो सकता है? मैं भाई जी की बातों से नत-मस्तक होकर कहता था कि भाईजी! आप पर परिवार का उत्तरदायित्व भी है। आपकी तीन बालिकायें व दो बच्चे हैं, उनके लिये तो कुछ करना ही होगा, उत्तर में उन्हीं शब्दों को दोहराते थे।

फिर उन्होंने मुझसे राय पूछी कि पांवटा मेरे लिये उपयुक्त स्थान है क्योंकि वहाँ यमुना का किनारा मेरी साधना के लिए उपयुक्त रहेगा। वहीं कहीं दुकान और रहने के लिए किराये का मकान ढूंढ लूंगा, परन्तु पहले आप श्री गुरुदेवजी की आज्ञा के लिए पत्र लिखो। पत्र लिखा, तुरन्त गुरुदेव जी का उत्तर आया कि जो तुम्हारे विचार हैं, उनसे मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम पांवटा में जाकर खूब अपने गुरु-मन्त्र का जाप करो—

नई दुकान की शुभारम्भ के लिए आदरणीय भाई पूर्णचन्द ब्रह्मचारीजी ने भी आने की कृपा की। साथ ही कोलर मण्डल ने रात्रि भर कीर्तन-भजन प्रभुजी के अलौकिक चरित्र का आनन्द लिया, परन्तु वह तल्लीन भाई बंसल व्यापार में उदासीनता संसार के व्यापार से दुःखी होता हुआ वहाँ के व्यापार में भी कामयाब नहीं हुआ, दुकान का किराया भी न दे पाये। अन्त में दुकान छोड़नी ही पड़ी। आश्चर्य यह है कि भाई जी की पतिव्रता पत्नी उनका पूरा सहयोग देती रही घर में प्रभु-प्रेम की पवित्र गङ्गा बहती रहती थी। इन विकट परिस्थितियों में भी भाईजी का मन विचलित नहीं हुआ, यह हम लोगों के लिए प्रेरणाप्रद है।

पैतृक सम्पत्ति के नाम से उनके पास एक इञ्च जमीन भी नहीं थी और अन्य भाइयों के मकान, दुकानें आदि थीं। उनके मन में कभी राग-द्वेष की भावना पैदा नहीं होती थी। एक दिन उनकी माता ने भाईजी से कहा, मैं तुझे मकान के लिए थोड़ी भूमि देती हूँ, परन्तु उस अनासक्त महात्मा ने इन्कार किया। सबके समझाने पर भाई जी ने कहा—जब तुमको जमीन देनी ही है, तो अपने पौत्र (पोते) के नाम दे दो। अनिच्छा में उनका एक कमरा आगेसे एक बरामदा भी बन गया था तथा आजीविका के लिए व्यापारियों की बही का कार्य करने में आर्थिक स्थिति भी सुधर गई थी।

इससे पूर्व भाईजी की साधना की परीक्षा के लिये एक विकट स्थिति भी आई, जब पांवटा की दुकान छूट गई तब एक दिन मिले और बड़ी श्रद्धा के साथ बोलने लगे कि अब मैंने परिवार-पालन के लिये लिफाफे बेचने की योजना बनाई है; क्योंकि इसमें कोई भी यम-नियम के पालन में बाधा नहीं हो सकती। एक दिन इसी कार्यमें तल्लीन सारा परिवार प्रभु के कीर्तन गाते हुए, लिफाफे बनाते हुए प्रभु-प्रेम में मस्त थे। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि कितना श्रद्धावान् यह परिवार है।

कालगति बड़ी विचित्र होती है। अपने शरीर को त्यागने से पूर्व भाई बंसल (तीन दिन पूर्व) चण्डीगढ़ में श्रीगुरुदेवजी के अंतिम दर्शन करके आये। दो दिन स्वस्थ रहे, विधिवत् अपने कार्यको करते हुए ३०-१०-८६ को अचानक हृदय गति रुकने से प्रभुजी की जय, बंशीवाले की जय करते हुए ७-२० पर अपने पार्थिव शरीर को छोड़कर अज्ञात आलोक में लुप्त हो गये। उपरोक्त घटना पूज्या बहिन जी (उनकी पत्नी ने बतलायी। ३१-१०-८६ को लगभग ११ बजे जब मुझे यह दुःखद घटना का समाचार मिला तो मैं उस महात्मा के अन्तिम दर्शन के लिये अपने विद्यालय के कार्यों को छोड़कर बस स्टेशन पर आया, परन्तु दुर्भाग्य से बस विलम्ब से मिलने के कारण मैं ऐसे समय पर पांवटा पहुंचा, जब उस अनन्य गुरु-भक्त की चिता सत्य का प्रकाश अग्नि रूप में दे रहा था। जब समुदाय में मैं अपने प्रेम-अश्रुओं को रोकता रहा, परन्तु कब तक रोकता। कपाल क्रिया के साथ ही भीड़ कम होने लगी। मैं उस पवित्र पुण्यात्मा की चिता की परिक्रमा करते हुए उनके प्रेम में गद्गद् होकर प्रेमाश्रुओं को बहाने लगा, तुरन्त भाई सत्यप्रकाश शास्त्रीजी ने मेरे को सान्त्वना दी तथा हम दोनों उस महापुरुष को मन से विदाई देकर आये तथा उनके आदर्श मन में विचार करते हुए उनके घर पहुंचे। घर में अनाथ परिवार शोकग्रस्त होकर रो रहा था, वह स्थिति बड़ी ही करुणाजनक थी।

मैं अपने मन में बार-बार श्री गुरुदेवजी से प्रार्थना कर रहा था कि आपने क्या लीला रची जो कि देखी नहीं जाती। उसी रात मैंने पांवटा में ही निवास किया; रात के लगभग तीन बजे होंगे कि करुणा सागर श्री गुरुदेवजी स्वप्न में आए तथा बोले कि तुम मोहित क्यों होते हो यह मेरा ही बच्चा था, तुमने हमारा अगस्त मास १९८६ का लेख भी पढ़ा? घर आते ही मैंने वह लेख पढ़ा उसमें जो मुख्य विषय था वह इस प्रकार से था कि कर्म दो प्रकार के होते हैं जो कि आयु को बतलाने वाले होते हैं। (१) सोपक्रम कर्म (२) निरुपक्रम कर्म:—तो श्री प्रिय भाई बंसल सोपकर्म से अपनी योगाग्नि को पूर्णरूपेण अपने अन्दर प्रदीप्त करके अपने कर्म बन्धन को खत्म कर चुके हैं। इस तरह से इस लेख को पढ़कर मेरा मोह दूर हुआ, यह निश्चित है कि इस प्रकार की आत्मा की अधोगति नहीं होती यथा—

ऋषि-दर्शन

❀ आचार्य श्री विनोबा भावे

यह समझने की बात है कि सृष्टि में जो आकृतियाँ होती हैं, वे भी गुण-दोषमय होती हैं। कोई उत्तम उद्यान है, सुन्दर पुष्प वाटिका है, जहाँ ठीक ढंग से वृक्षों की काँट-छाँट हुई है, ठीक फासले पर वृक्ष लगाए हैं, तो वह देखकर मनुष्य को आनन्द होता है। कोई घना जंगल हो टेढ़ा-मेढ़ा, तो वह देखकर भी मनुष्य को आनन्द होता है। उसको दोनों में सौन्दर्य दीखता है। उद्यान और जंगल एक दूसरे के विरोधी हैं, तो दोनों में सौन्दर्य का अनुभव क्यों आया? क्योंकि भगवान् का एक गुण उसमें और एक गुण उसमें प्रकट हुआ। उसमें स्वच्छन्दता है, स्वातन्त्र्य है। जिस पेड़ को जिधर बढ़ने की इच्छा है, उधर बढ़ा। तो पूर्ण स्वातन्त्र्य का, सहजता का गुण उसमें है और इधर व्यवस्थितता है, समता है। यह भी गुण, वह भी गुण। यह देखकर भी आनन्द, वह देखकर भी आनन्द। सामवेद का एक मन्त्र मैं बहुत दफा गाया करता हूँ :—

वसन्त इन्नु रन्त्यो,
ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः,
शिशिर इन्नु रन्त्यः॥

उसका तर्जुमा मैंने हिन्दी में किया :—

वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा-शरद-हेमन्त-शिशिर रमणीय है॥

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्-
दुर्गतिं तात गच्छति॥

अर्थात्—इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ! उस पुरुष का, न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे! कोई भी शुभ कर्म करने वाला या भगवद् अर्थ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है।

अन्त में मैं श्री गुरुदेवजी के चरणों में बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि उस दिवंगत आत्मा को शान्ति मिले और उस अनाथ परिवार को इस दुःख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

मेरी श्रद्धाञ्जलि

हे प्रिय वंसल! कभी न भूलेगी,
वह वैराग्य की भावना मुझे।
तुम जग में रहते निर्लिप्त थे,
कीच में कमल रूप थे।
अविचल थे गुरु भक्ति में,
हिमालय जैसे अडिग थे।
हे प्रिय वंसल..................
यथार्थ था नाम तुम्हारा,
सत्य के ही तुम प्रकाश थे।
उस दिव्य आलोक प्रकाश से,
अन्धकार मेरा भी मिटा देना।
हे प्रिय वंसल..................
जहाँ भी हो तुम्हारी वह आत्मा,
वहीं स्वीकार करना।
तुंगेश्वर की श्रद्धाञ्जलि को,
हे प्रिय वंसल..................
प्रभु हमारे अनादि अनन्त हैं,
निश्चित ही तुम परमधाम योग्य हो।
हे प्रिय वंसल..................

ऋषि का दर्शन है। उसको छः ऋतु सबके सब रमणीय मालूम होते हैं। हम अक्सर कहते हैं—वसन्त रमणीय है, ग्रीष्म तकलीफदेह है, हेमन्त ठीक है, वर्षा ठीक नहीं। लेकिन ऋषि को सब ऋतु रमणीय प्रसन्न मालूम हुईं। क्योंकि उसने हर एक का एक-एक गुण ले लिया।

बचपन में हमने 'बालमित्र' नाम की एक पत्रिका पढ़ी थी। उसमें एक कहानी थी। मुन्ना बगीचे में गया। वहाँ सुन्दर फूल खिले थे। मुन्ना को बहुत आनन्द हुआ। वह कहने लगा, हमेशा यदि बसन्त ऋतु रहे। बाप ने कहा—बेटा! यह बात तुम अपनी कापी में लिख रखो। ठण्ड के दिन आए। मुन्ना गेहूं की बाली खाने के लिए खेत में गया। उसने कहा—हमेशा गेहूं की बाली खाने को मिले, तो कैसा आनन्द होगा। बाप ने कहा—बेटा! यह तुम अपनी कापी में लिख रखो। इस तरह मुन्ना हर ऋतु के बारे में कहता रहा। 'बाल-मित्र' एक फ्रेंच किताब का तर्जुमा है। सामवेद के मन्त्र के समान वह कहानी है। हर ऋतु में गुण भरे पड़े हैं। हमें उस ऋतु के लायक बनना चाहिए और गुण खींचना चाहिए।

गुण चुम्बक-शक्ति=ध्यान-शक्ति

इस तरह दुनिया गुणदोषमय है। उसमें से गुण खींचना है। जमीन पर अनेक प्रकार के कण पड़े है, उनमें लोहे के भी कण हैं। लौह चुम्बक लोहे के कणों को खींच लेगा। उसी तरह गुण चुम्बक गुण को खींचेगा।

लेकिन गुण? क्या दोष क्या? यह भी सवाल है। आप जिस चीज को मैला गन्दा कहेंगे, वह चीज मक्खी को पसन्द आएगी। उसके लिए उससे बेहतरीन खुराक नहीं होगी, तो इसमें मतभेद होगा। आपकी अनुकूलता-प्रतिकूलता के कारण आप एक को गुण मानेंगे, एक को दोष। दुनिया के ख्याल में कौन सा गुण और कौन सा दोष है, यह तय नहीं हो सकता। इसलिए आप जो गुण चाहते हैं, वह खींच लेना चाहिए। वह खींचने की शक्ति आ गई, तो समझना चाहिए कि ध्यान-शक्ति आ गई, अन्यथा आप चाहें सिद्धासन लगाकर बैठें, चाहे आँखें बन्द कर बैठें, वह ध्यान-शक्ति नहीं होगी वस्तु मात्र से गुण खींचने की शक्ति आयेगी, तभी ध्यान-शक्ति प्राप्त होगी।

एक सवाल पूछा गया है कि आपने ध्यान का अर्थ सर्वत्र गुण-चिन्तन बताया। वह ठीक है, लेकिन भागवत में है कि कोई एक गोपिका दही बेचने निकली और 'दही लो जी, दही', के बदले 'गोविन्द लो जी, गोविन्द' बोल गई। इस प्रकार हरि दर्शन करें, क्या ध्यान का यह प्रयोग ठीक होगा?

बात तो ठीक है, लेकिन यह सवाल पूछा जायगा कि 'गोविन्द' कौन? फलाने का बाप? फलाने का बेटा? फलाने का भाई? उत्तर मिलेगा—"सत्य प्रेममय, नारायण, करुणामय।" कौन नारायण करुणामय? एक अव्यक्त मूर्ति (गुणमय) और उसके गुणों का एक-एक अंश एक-एक को प्राप्त है—

थोड़ा हमें, थोड़ा औरों को। किसी को प्रेम का अंश, किसी को सत्य का अंश बाँटा है। लेकिन नाम भले गोविन्द हो, लेकिन उसका अर्थ है करुणामय परमेश्वर। मतलब, वह गुण ही होता है।

हर एक में हम भगवान को देखें, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ हर एक का गुण-ग्रहण होना चाहिये। तो फिर भगवान का ग्रहण नहीं हुआ, तो और क्या हुआ? आज ही मुझसे कुछ लोगों की बातें हो रही थी कि आपसमें दिल नहीं खुला। इसके सामने चोरी उसके सामने चोरी। मतलब हम चोर हैं? सारा छिपा हुआ मामला, क्यों नहीं खुलता है दिल? क्योंकि खतरा मालूम होता है। अगर सामने वालेमें गोविन्द का दर्शन हुआ, तो उसका अर्थ यह है कि सामने वाले में गुण का दर्शन हुआ। फिर वहाँ खतरा मालूम नहीं होगा, दिल खुल जायगा। भक्त का लक्षण है—"आपण व्हावें एकीकडे, देव कोंडवरी जोडे"—हम इस शरीर को खाली करदें तो भगवान् उसमें रहेगा। शरीर में हम ही खचाखच भरे रहेंगे, तो उस हालत में भगवान् की जगह नहीं रहेगी। सर्वत्र गोविन्द-दर्शन का अर्थ है सर्वत्र प्रेम भरा है, करुणा भरी हो, उसका दर्शन। चीज पड़ी है। वह पाने के लिए हमें अपने को खाली करना पड़ेगा। बापू कहा करते थे कि हमें 'शून्य बनना' है। कठिन है। अच्छा है वह शब्द भी। लेकिन मुझे 'खाली करो' शब्द विशेष अर्थ प्रकाशित करता है। खाली करो, मंदिर खोलो, तो हर एक का गुण ग्रहण होगा।

गुण-दोष दोनों होते हैं। दोष माया का है, गुण भगवान् का। आँख को माया एकदम दीखती है। इन्द्रियाँ हैं, वे स्वभावतः विषयाभिमुख हैं।

आँख खुल गई, तो बाहर का विषय एकदम अन्दर बैठ गया। अनुकूल-प्रतिकूल प्रक्रिया हुई। इसलिए इन्द्रियों से जो ज्ञान मिलता है, उससे सावधान रहना चाहिए। वह सच्चा ज्ञान नहीं है। वह आकार का ज्ञान है। हम कहते हैं कि हमने फलाने को देखा। वह गलत है। हमने देखा, उस आकृति को देखा मनुष्य तो अव्यक्त है। उसको हम नहीं देख सकते और आँखों से जो देखा जाता है, उसके कारण हमारे अभिप्राय बनते हैं। इसलिए सर्वत्र गुण देखने का प्रयत्न करेंगे। तो गुणमय भगवान् देखने लगेंगे। भगवान् गुणमय है। 'मी गुणसम्पन्न, हेंचि लक्षण'—मैं गुण सम्पन्न हूँ, यही लक्षण है। उनका लक्षण ही यह है। इसलिए जिन्होंने ध्यान किया कि सर्वत्र गोविन्द है, उन्होंने सर्वत्र गुणमय मंगलमय दर्शन किया, ऐसा अर्थ होगा।

उस मंगलमय दर्शन की खूबी यह है कि उससे परिवर्तन होता है। वह चीज हृदय को छूती है। एक बच्चा हम पर अत्यन्त विश्वास रखकर हमारे पास आ जाय, तो हम उसको ठग नहीं सकते। बच्चे को ठगने की प्रेरणा सामान्यतया नहीं होती, क्योंकि वह पूरी श्रद्धा रखकर आता है। फिर भी कुछ लोग बच्चों को भी ठगते हैं। ऐसा इसलिए होता

स्मृति और अभ्यास

❀ श्री जगदीश

प्रायः लोग समझते हैं कि योग बहुत कठिन चीज है। परन्तु वास्तव में स्मृति ही सहज समाधि है। जब-जब मन अपनी देह के भी भान को भूलकर बिन्दु-सदृश ज्योति-स्वरूप परमपिता परमात्मा की स्मृति पर टिक जाता है तो मनुष्यात्मा का परमपिता से योग होता है। 'स्मृति' से हमारा अभिप्राय किसी मन्त्र का स्मरण या किसी रूप का ध्यान करना नहीं है बल्कि सर्वोत्तम गुणों वाले जो परमपिता परमात्मा शिव है, उन्हीं से युक्त होना है। जितना-जितना कोई मनुष्य नष्टमोह होता है, उतनी-उतनी ही उसकी स्मृति ध्रुव और अव्यभिचारी अर्थात् शुद्ध होती है। परमपिता परमात्मा की शुद्धस्मृति में रहने से आत्मा शुद्ध एवं पावन होती है और मुक्तिधाम तथा जीवन-मुक्तिधाम में जाती है। परमात्मा की स्मृतिमें यदि अन्यान्य चीजों या पदार्थों की याद भी मिश्रित हो जाती है तो उसका बुद्धियोग शुद्ध अथवा अव्यभिचारी न होने से उसकी स्थिति और वृत्ति भी अशुद्ध होती है और गति तदनुसार ही होती है क्योंकि स्मृति से ही स्थिति, वृत्ति और कृति का सम्बन्ध है। अतः स्मृति को ठीक तरह ईश्वर में लगाने से संसार की स्थिति भी बदल जाती है।

आपने देखा होगा कि जब कोई मनुष्य किसी बीमारी के कारण अथवा किसी सदमें या अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण स्मृतिको खो बैठता है तो वह अनाप-शनाप बकने लगता है और लड़ने-झगड़ने तथा उल्टे-सुल्टे कर्म करने लगता है। ठीक इसी प्रकार जब मनुष्य को आत्मा की तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति नहीं रहती तब उसका भी बोलना-चालना और रहना-करना दैवी मर्यादा के अनुकूल नहीं रहता। अतः आप ही सोचिये कि वृत्ति को भी परिवर्तित करने के लिए स्मृतिका कितना महत्त्व है! वास्तवमें स्मृति से ही परमात्मा का सहारा मिल सकता है, स्मृति से ही सहनशीलता आती है, स्मृति ही से सत्य-स्वरूप परमात्मा का संग होता है। स्मृति मानो एक ऐसा इन्जेक्शन है जिसके द्वारा मनुष्य को सर्व-शक्तिमान परमात्मा से शक्ति भी मिलती है और जिससे कि मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के विकर्म रूपी कीटाणु अथवा कृमियाँ नाश हो जाती है।

योग के लिए मनुष्य को मुख्य रूप से पाँच बातों की स्मृति रखनी चाहिए। (क) मैं कौन हूं और इस सृष्टि-रूपी सराय में कहाँ से आया हूं और मुझे कहाँ, कब और

है कि बच्चों का पूर्ण श्रद्धावान होना ज्ञान-मूलक नहीं अज्ञानमूलक है। इसलिए तुकाराम ने कहा है—'जाणोनी नेणतें करी माझेंमन।' मेरे मन को ज्ञानी करके अज्ञानी कर, यानी ज्ञानपूर्वक अज्ञान। अगर ऐसा हो कि पूर्ण श्रद्धा ज्ञानमूलक है, कोई ठग नहीं सकता। फिर कोई ठगे यह असम्भव है। मेरा विश्वास है कि ऐसी श्रद्धा बनी रहे, तो चित्त पर भार नहीं रहेगा और उससे हम जितना चाहते हैं, उससे कई गुना ज्यादा परिणाम आयेगा।

— ✲ —

कैसे वापस जाना है? (ख) अन्य जो सभी शरीरधारी अथवा मनुष्य-तनधारी हैं, उनके साथ मेरा वास्तविक सम्बन्ध क्या है तथा परमात्मा के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है और परमपिता परमात्मा से मुझे क्या प्राप्ति होगी? (ग) मेरी प्रारम्भिक स्थिति कैसी थी और वह कैसे और कब बदली और उसमें गिरावट क्यों आई तथा अब मैं उस स्थिति को कैसे प्राप्त कर रहा हूँ और उसमें परमपिता परमात्मा ने मुझे कैसे जगाया है? (घ) अब इस जन्म में मुझे क्या करना चाहिए, कैसे परमात्मा पर न्यौछावर होना चाहिए और किस मत पर चलना चाहिए ताकि मेरा यह जीवन योगी जीवन ही बना रहे? (ङ) इस जीवन में योगी बनने से अभी और बाद में क्या लाभ है, कितनी जबरदस्त प्राप्ति है और परमात्मा का बनने में कितना आनन्द है? जब मनुष्य इन पाँचों प्रश्नों के उत्तरों की स्मृति में रहता है तो उसका मन योग-स्थित हो जाता है।

जन्म-जन्मान्तर दैहिक सम्बन्धों के कारण मनुष्य का देहअभिमान पक्का हो गया है और मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा की विस्मृति हो गई है। अतः अब ईश्वरीय स्मृति के अभ्यास की आवश्यकता है। बारम्बार अभ्यास करने से ही स्मृति शुद्ध और ध्रुव होगी। केवल यह निश्चय हो जाना कि मैं आत्मा हूँ, परमपिता परमात्मा की अविनाशी सन्तान हूँ, पर्याप्त नहीं है बल्कि उसकी स्मृति का अभ्यास भी आवश्यक है ताकि यह निश्चय आचरण में आ जाय। कार्य-व्यवहार में बरतते हुए मनुष्य को फिर-फिर विस्मृति हो जाती है और वह देह-अभिमानी हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातःकाल अमृत वेला तथा रात्रिको तो ईश्वरीय स्मृति में निष्ठ होने का अभ्यास करे ही परन्तु दिन-भर में भी कई बार समय निकाल कर कुछ-कुछ मिनट ही सही, प्रेम और उल्लास से ईश्वरीय स्मृति में टिकने का अभ्यास करता रहे।

अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में कभी सुस्ती, कभी थकावट, कभी हिचकिचाहट और कभी उदासीनता की लहर आये तो भी अपने अभ्यास को छोड़ना नहीं चाहिए क्योंकि योग से गिर-गिर कर फिर चढ़ना अधिक कठिन होता है। अतः यह सदा याद रखना चाहिए कि योग तो बड़ा सरल और मधुर है और जबकि उससे अतुल प्राप्ति है, तब तो मन की विक्षेपता को हटाकर अभ्यास में लग जाना ही उचित और कल्याणकारी है।

संसार में कई लोग ऐसे हैं जो योग के बारे में बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ते हैं, व्याख्यान सुनते हैं और बौद्धिक रूप से इस विषय को समझते भी हैं। तथापि वे योगी नहीं हैं क्योंकि वे योग का अभ्यास नहीं करते। अभ्यास करने वाले को ही मन की स्थिरता अथवा एकाग्रता का लाभ होता है। आनन्द रस की अनमोल उपलब्धि होती है और मनोपरिवर्तन द्वारा दिव्यता प्राप्त होती है। अतः बार-बार अभ्यास ही एक ऐसा साधन है जो मनुष्य को योग के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देता है।

रामराज्य की सुखद कल्पना

श्री आत्मानन्द दुबे

परमपिता परमात्मा सृष्टिकी रचना करके आदि सृष्टि में चार ऋषियों— अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा के माध्यम से वेदोंका ज्ञान मनुष्यों को दिया; जिनकी आगे चलकर चार संहितायें संकलित की गई जो आज चार वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के नाम से जाने जाते हैं। यजुर्वेद के २२वें अध्याय के २२वें मन्त्र में राष्ट्र कैसा होना चाहिए, इसका उपदेश भगवान् ने मनुष्यमात्र के लिए किया है उसीका भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अमर-ग्रन्थ रामचरित मानस में रामराज्य का वर्णन इस प्रकार किया है :—

रामराज्य बैठे त्रैलोका,
सब सुख भये गये सब शोका।
बैर न कर काहू सन कोई,
राम प्रताप विषमता खोई।
बरनाश्रम निजनिज धरम, निरत वेद पथलोग,
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग।
दैहिक दैविक भौतिक तापा,
राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
सब नर करहिं परसपर प्रीती,
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।
चारिहु चरन धर्म जगमाहीं,
पूरि रहा सपनेहुँ अघनाहीं।
राम भगति रत सब अरु नरनारी,
सकल परमगति के अधिकारी।
अल्प मृत्यु नहिं कवनेउँ पीरा,
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
लता विटप माँगे मधु चवहीं,
मन भावतो धेनु पय श्रवहीं।
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी,
त्रेता भइ कृतजुग कै करनी।
प्रगटी गिरिन्ह विविध मनि खानी,
जगदातमा भूप जग जानी।
सरिता सकल बहहिं बरबारी,
सीतल अमल स्वादु सुखकारी।
सागर निज मरजादा रहहीं,
डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।
सरसिज संकुल सकल तड़ागा,
अति प्रसन्न दसदिसा विभागा।
विधु महिपूर मयूखन्हि, रवितप जेतनहि काज
माँगें बारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज।

देखना यह है कि ऐसे रामराज की कल्पना कब हमारे देश में साकार हो सकेगी। कब हम इस वैदिक भावना को मूर्त रूप लेते हुए देख सकेंगे :—

ब्रह्मन्! स्वराष्ट्र में हों, द्विज ब्रह्म तेजधारी।
क्षत्रिय महारथी हों, अरिदल विनाशकारी॥
होवें दुधारू गौएँ, पशु अश्व आशुवाही।
आधार राष्ट्र की हों, नारी सुभग सदा ही॥
बलवान् सभ्य योद्धा, यजमान पुत्र होवें।
इच्छानुसार वर्षे, पर्जन्य ताप धोवें॥
फल-फूल से लदी हों, औषध अमोघ सारी।
हो योग क्षेमकारी, स्वाधीनता हमारी॥

योग सम्बन्धी कुछ नूतन सूत्र

❀ श्री स्वामी निगमानन्द एम० ए०

"योग-ध्वनि" नाम से कुछ सूत्रों का संग्रह और प्रकाशन वैदिक साधना आश्रम यमुना नगर हरियाणा के स्वामी निगमानन्द एम० ए० द्वारा किया गया है। स्वामी जी वैदिक-साहित्य और पतञ्जलि योग-दर्शन के सशक्त अध्येता हैं। आपने अपने अनुभवों के आधार पर कतिपय उपयोगी सूत्रों की रचना की है। आपके इन्हीं रचित सूत्रों का नाम है "योग-ध्वनि" जिससे लेकर ही कुछ सूत्रों को साधना-प्रिय पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ दे रहे हैं। —सं०सं०

१—परिभाषा पाद

१—शब्दावृत्ति : धारणा, शब्ददर्शनं ध्यानं, शब्दशान्तिः, समाधिः।

शब्द की बार-बार आवृत्ति होना धारणा है।

शब्द का सर्वत्र दिखाई देना ध्यान है।

अत्याधिक जप के बाद शब्द का शान्त हो जाना समाधि है।

२—एक चेतनास्थितिः समाधिः।

चेतना के किसी एक स्तर में स्थित होना समाधि है।

३—मोक्षोऽतिमृत्युः, आनन्दमयकोषोस्थितिः।

मृत्यु को पार करना मोक्ष है। मोक्ष में जीव आनन्दमय कोष में स्थित होता है।

२—साधना पाद

४—परं साधनं शब्दः योगानां योगत्वं शब्देन।

शब्द सर्वश्रेष्ठ साधन है, सभी योगों का आधार है।

५—सर्वकोशगतश्शब्दश्चतुर्विधः।

सभी कोषों में व्याप्त शब्द चार प्रकार का है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा।

६—श्रोतोनुवर्ती अर्थानुगामी शब्दः ईशनाम विशिष्यते।

शब्द अपने उद्गम-स्थल (ईश्वर) की ओर जाने वाला तथा अपने अर्थ को प्रकट करने वाला होता है। इसलिये ईश्वर का नाम जप करने के लिए विशेष महत्व का है।

७—तदेव पशुपक्षिणाम्।

पशु-पक्षियों की साधना एक शब्द का उच्चारण ही है।

८—सत्यमेकमानन्दमर्थचिन्तनम्।

शब्द का जप करते समय ईश्वर सत्य-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप आदि है, इस प्रकार उसके गुणों का चिन्तन करना चाहिए।

९—अन्तेशरणागतिः।

आनन्दमय कोश में पहुंचने पर ईश्वर की शरणागति ही साधना है।

१०—युक्ताहार विहारश्च सहायक साधनानि।

गुरु-मन्त्र, स्वाध्याय, सत्संग, यज्ञ, आसन, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, वैराग्य और सेवादि का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए।

११—वर्तुले कक्षे जपः।

गोल कमरे में जप करना चाहिए।

१२—सुप्रतिष्ठते योगे सर्वमेव सुखं विवेकिनः।

योगारूढ़ हो जाने पर विवेकी पुरुष को सर्वत्र सुख ही दिखाई देता है।

३—अनुभूति पाद

१३—प्रकाशदर्शनं नादश्रवणञ्च।

जप करने पर कुछ समय बाद प्रकाश दिखाई देता है तथा ध्वनियाँ सुनाई देती हैं।

१४—स्वेदन कम्पन लघुत्वानि देहस्य।

शरीर में पसीना आता है, कम्पन होता है अथवा हल्कापन मालूम होता है।

१५—सिद्धयः मनोभवाः।

मानसिक शक्ति से उत्पन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

४—प्रतिष्ठा पाद

१६—ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां व्यभिचार निवृत्तिः।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने से उसके प्रभाव के क्षेत्र में कहीं व्यभिचार नहीं होता तथा कामुकता की बात नहीं होती।

१७—अपानजयात् ब्रह्मचर्य सिद्धिः।

अपानवायु के जय से ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है।

१८—शौच सिद्धौ स्वच्छता।

शौच की प्रतिष्ठा हो जाने पर उस व्यक्ति के आसपास लोग स्वच्छता रखते हैं।

१९—ज्ञान प्रतिष्ठायां ऋषित्वम्।

ज्ञान की प्रतिष्ठा से ऋषि-पद की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार प्रसन्नता, निराशा, लोभ, मैत्री, वीरता, कायरता, घृणा, भक्ति, प्रेम, तर्क, अज्ञान, वैराग्य, सेवा और दान आदि की प्रतिष्ठा लेने में वैसी भावनाएँ आसपास कार्य करती हैं।

२०—व्यानजयाच्छरीरस्याकुंचन प्रसारण सिद्धिः।

व्यानजय से शरीर को सिकोड़ने की और फैलाने की सिद्धि प्राप्त होती है।

२१—समाधि सिद्धिः प्राणजयात्।

प्राणवायु के जय से समाधि सिद्धि होती है।

२२—समान जयात् स्वास्थ्यः।

समान जय से उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

१०—लोके लाभः।

व्यावहारिक जीवन में भी साधना करने से लाभ होता है (मनोरोग दूर होते है, स्मृति तीव्र होती है। प्रतिभा का विकास होता है। शक्ति-स्रोत आत्मा से सम्बन्ध हो जाता है।

योगोनष्टः परंतप

विश्व-योग-सम्मेलन में श्रद्धेय गुरुदेवजी का प्रवचन

'महाभारत के भीष्म पर्व में परम योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को योग का उपदेश देते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है कि इस महत् श्रेयस्कर योग विद्या को मैंने ही आदि काल में सूर्य को उपदेशित किया था। सूर्य से अन्य राजर्षि और तपस्वी, ऋषि, मुनि एक दूसरे से ग्रहण करते हुए चले आये। परन्तु कालचक्र के प्रभाव से यह लोकोपकारी योग-विद्या नष्ट प्रायः हो गई थी। हे अर्जुन! इसी मानव पुरुषार्थ को फलित कर देने वाली विद्या को अब मैं तुम्हें निमित्त बनाकर फिर से लोक हितार्थ प्रकाशित कर रहा हूं।'

भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन को भी कहे हुए लगभग ५००० वर्ष का काल और व्यतीत हो गया है, जिसके आवरण में परंतप अर्जुन को निमित्त कर संसार के लोगों को फिर से दिया गया योग का यह उपदेश भी प्रायः विलीन सा ही हो गया था जिसे इस वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में योगियों के मुकुटमणि परमानन्द कन्द महाप्रभु श्रीरामलालजी नेपाल के अपने हिमाच्छादित एकान्त प्रवास को छोड़कर इस भारत-भूमि पर लुप्त योग विद्या का प्रकाश करने लोक-कल्याणार्थ आये और कुछ ही समय में प्रकट एवं गुप्त रूप से रहते हुए इसका परम प्रकाश फिर से कर दिया। उन्हीं के सद् प्रयास का यह परिणाम हमें देखने को मिल रहा है कि योग का डंका न केवल इस देश में किन्तु विश्व के प्रायः प्रत्येक खण्ड में बजता हुआ कर्णगोचर हो रहा है। यह बात दूसरी है कि योग के आधुनिक प्रचारकों को भी उनके इस कृपा-रहस्य का बोध उन्हें नहीं है; परन्तु जो अन्तर दृष्टि सम्पन्न महापुरुष सन्त और मनीषी योग प्रचारक हैं वे इस वास्तविकता को भली-भांति समझते और मानते हैं कि योग की जो महिमा आज यत्र-तत्र-सर्वत्र देखी-सुनी जा रही है उसका मूल स्रोत उन्हीं महाप्रभुजी की कृपा कोर का परिणाम है। जिस रूप में जिस स्थान पर भी हमें योग चर्चा सुनाई पड़ती है वह हल्दी की गांठ के समान उन्हीं महाप्रभुजी की कृपा का प्रसाद है। उन्हीं की अलौकिक शक्ति का फल है।

उपर्युक्त वाक्यांशों के साथ पिछले दिनों दिल्ली में आयोजित "विश्व योग सम्मेलन" के मंच से अपना महत्वपूर्ण प्रवचन आरम्भ किया, भारत के परम प्रसिद्ध सिद्धयोगी सवाई योग-प्रशिक्षण केन्द्र के संचालक आनंद-कन्द योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने।

इस सुविख्यात योग-सम्मेलन का उद्घाटन किया था भारतके राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने।

महाराज श्री ने अपने महत्वपूर्ण प्रवचन में आगे कहा—कि इतना योग-प्रचार होते हुए भी यथार्थ रूप से योग क्या है? इसे जानने वाले अब भी बहुत थोड़े से ही लोग हैं। अधिकांशतः योग की शिक्षण संस्थायें

भी ऐसी देखने में आई हैं, जो आसन, प्राणायाम और हठयोग की कतिपय क्रियाओं को ही योग के रूप में विश्व मञ्च पर प्रदर्शित करके उन्हें ही योग के रूप में विज्ञापित करती हैं, इससे लोग समझ बैठते हैं कि योग केवलमात्र इतना ही है।

षट्चक्र भेदन क्या है? सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि क्या है? शक्तिपात के द्वारा सद्गुरु कृपा कैसे प्राप्त होती है? उसकी पात्रता क्या है? कैवल्य लाभ का अधिकारी कौन कैसे हो सकता है? आदि योग के आन्तरिक भेदों को जानने वाले और इनका उपदेश करने वाले योगाचार्यों की संख्या कम ही देखने में आती है। योग-प्रचारक संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इन सब विषयों की शिक्षा योग्यतम् अधिकारी मनीषियों द्वारा दिलाने की ओर विशेष ध्यान दें तभी योग धर्म का वास्तविक प्रचार हो सकेगा।

आगे श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के भेदों का वर्णन करके उसे श्रोता समूह को भली प्रकार समझाया। श्री महाराज जी का यह प्रवचन अपने ढङ्ग का अनुपम रहा इसलिए सभी ने उसकी सराहना की।

राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने सर्व प्रथम योग-योगेश्वर श्रीगुरुदेव महाराज को माल्यार्पण करते हुए उन्हें सश्रद्धा योग-शिरोमणि का मानद पद अर्पित किया। श्री गुरुदेवजी ने इसके पश्चात् महामहिम राष्ट्रपति महोदय को अपना स्नेह प्रदान करते हुए मंगलमय आशीष-वचनों से समादृत किया।

दिल्ली में यह योग-सम्मेलन गत २९, ३० दिसम्बर को 'महर्षिदयानन्द सोसाइटी' के आचार्य भगवानदेवजी के सत् प्रयासों से आयोजित किया गया था। संसार के प्रायः सभी देशों के योग प्रचारक और जिज्ञासुओं ने इसमें भाग लिया। साथ ही भारतवर्ष के प्रत्येक राज्य से शामिल होने वाले योग प्रेमी जिज्ञासुओं की संख्या भी बहुत थी। सवाई आश्रम से सम्बन्धित गुरु-भाई-बहिनों ने भी लगभग ३०० की संख्या में उपस्थित होकर अपने पूज्य गुरुदेव के महत्वपूर्ण भाषण के सुनने का लाभ लिया।

सम्मेलन का समापन 'महिलाएँ एवं योग' परिचर्चा के साथ हुआ। इस महिला योग सम्मेलन की अध्यक्षता कलकत्ते की सुविख्यात योगिनी इन्दुजैन ने की। सवाई आश्रम की सुविख्यात संगीत-रत्न बहिन उमा शर्मा जी ने इस महिला-सम्मेलन का संयोजन किया था। बहिन उर्मा शर्मा ने आधुनिक एवं पौराणिक चरित्रों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया कि महिलाएँ भी प्रारम्भ से पुरुषों के समान योग-शक्ति सम्पन्न रही हैं। महाप्रभु श्री रामलालजी की कृपा को पाकर रामरती देवी ने किस प्रकार १२ वर्ष की समाधि लगाई इसका हृदयग्राही वर्णन बहनजी ने प्रस्तुत किया।

सम्मेलन में अन्य योग-प्रेमी तपस्वी साधकों के भी उपयोगी प्रवचन हुए। जम्मू कश्मीर के सुविख्यात योगी श्री हरिभक्त चैतन्य जी भी सम्मेलन में उपस्थित थे। कुल मि[illegible]कर सम्मेलन का समापन एक मधुर [illegible] वातावरण में हुआ था।

कुल मिलाकर इस सम्मेलन में १४-१५ योग-वेत्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। इनमें से लगभग छः प्रवक्ता गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की शिष्य-श्रृंखला में से थे। इनमें गुजरात से पधारे श्री विष्णुदास महाराज एवं जम्मू के योगी चैतन्य जी विशेष उल्लेखनीय हैं। ३० दिसम्बर को 'योग एवं साम्प्रदायिकता' जैसे महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा आरम्भ हुई। सभी वक्ताओं ने अपने मौलिक सुझाव प्रस्तुत किये।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दिल्ली में सन् १९६८ में भी इस प्रकारके एक 'विश्व-योग सम्मेलन' का आयोजन श्री क्रिस्टोफर हिल के सद्प्रयासों से हुआ था। पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने इस सम्मेलन में भी भाग लेकर उसकी शोभा बढ़ाई थी तथा इसी अवसर पर पूज्य श्री गुरुदेव ने क्रिस्टोफर हिल के एक सहयोगी प्रो० सिसिली पर शक्तिपात करते हुए उन्हें अन्तर्जगत के दिव्य दृश्यों का बोध कराने की कृपा की थी। उस समय एक विदेशी ने जिसने कि इस घटना के अवसर पर उपस्थित रहकर स्वयं सब कुछ देखा था, कहा था—'सच्चा योग तो यह पूजनीय महापुरुष ही जानते हैं, शेष तो सब किताबी बातें ही बताते हैं।' उपस्थित विदेशी योग-प्रेमियों में से एक ने तब महाराजजी को अपने देश में चलने का भी विशेष निमन्त्रण दिया था और यात्रा का सभी खर्च स्वयं उठाने का वचन दिया था, किन्तु महाराज श्री ने इसे कतिपय कारणों से स्वीकार नहीं किया, और कहा था कि मैं अपने विदेशी बच्चों को यहीं अपने देश से ही दिशाबोध देता रहता हूँ, जो फ्रांस, इटली, लन्दन आदि देशोंमें निवास करते हैं। इनमें से अधिकांश सवाई योग-आश्रम पर आकर मुझसे दीक्षा ग्रहण करके अपना योगाभ्यास सही ढङ्ग से चला रहे हैं।

सन् १९८६ में दिसम्बर २९-३० को आयोजित विश्व योग-सम्मेलन में जो प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित हुए, उनमें प्रमुख है—योग-चिकित्सा द्वारा रोग निवारण हेतु एक सर्व साधन-सम्पन्न चिकित्सालय की स्थापना एवं योग विश्व-विद्यालय की स्थायी रूप से स्थापना।

सम्मेलन में बहु-संख्यक राज-नेताओं और योग-प्रेमी साधकों ने भाग लेकर विश्वविख्यात योगियों और प्रवक्ताओं के भाषणों से लाभ उठाया। भारतीय राजनीति के भीष्मपितामह श्रीराजनारायण की उपस्थितिका अभाव सम्मेलन में उनके सभी परिचितोंको खटकता रहा। पिछले एक-डेढ़ दशक से जबसे कि उन्होंने योग-योगेश्वर श्री चन्द्रमोहनजी महाराज से योग-दीक्षा ली थी, वे योगारूढ़ योगी का सा जीवन व्यतीत करते रहे। महाराजश्री के वे परमप्रिय शिष्यों में थे। योग-सम्मेलन के द्वि-दिवसीय समारोह के पहले से ही वे रोग-ग्रस्त थे। दैवयोग से इन्हीं दिनों वे बहु-चर्चित अपने कर्मठ यशस्वी जीवन की गाथायें छोड़कर परलोकवासी हो गये। श्री महाराजजी ने जब यह सुना तो अस्पताल पहुंचकर उनकी आत्मा को परम सद्‌गति प्रदान करने के लिए अपनी कृपा-शक्ति का संचरण किया। उनके प्रयाण के समाचार से सारे देश को गहरा धक्का लगा। ❁❁

पृष्ठ २० का शेष—[तपोधन महामुनि पतंजलि]

सौभाग्य मिला है। शब्द-ब्रह्म ही सृष्टि का आदि कारण है ऐसा पतञ्जलि ने माना है।

(२) योगसूत्र—पतञ्जलि के ग्रन्थों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है। चार पाद और १९५ सूत्रों में सम्पूर्ण योग-दर्शन ग्रथित किया गया है। मानस-शास्त्र का इतना सांगोपांग और सूक्ष्मतम विवेचन और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। प्रथम समाधि पाद में 'योग-श्चित्तवृत्ति निरोधः' (चित्त की वृत्तियों का निरोध यानी योग) से आरम्भ कर समाधि-शास्त्र की रूपरेखा बतायी है। दूसरे साधना पाद में आत्म-साक्षात्कार के लिए अष्टांगयोग साधन क्यों करना चाहिए, इसकी मीमांसा करके यम, नियम, आसन, प्राणाम और प्रत्याहार इन पाँच अङ्गों का विचार किया है। तीसरे विभूति पाद में धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अंतरंग साधनों का विवेचन कर उस निमित्त से अनेकविध ज्ञान-सिद्धि व क्रियासिद्धि कैसे प्राप्त होती है, इसका विस्तृत विवरण दिया है और अन्त में सर्वश्रेष्ठ विवेकजन्य ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, यह बता कर उसका स्वरूप समझाकर "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्।" (चित्त और आत्मा की साम्य-शुद्धि कैवल्य है) ऐसा उपसंहार किया है।

चौथे कैवल्य पाद में सिद्धि के निमित्त खड़े हुए कुछ मुद्दों का विवेचन करके जीव-मुक्ति का विस्तार से वर्णन किया है और उसका पर्यवसान विदेहमुक्ति में कैसे होता है यह बताकर 'स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेः' ऐसा कह कर समाप्त किया है।

योग-सूत्रों की महिमा अपार है। दर्शन-शास्त्री उसे एक स्वतन्त्र-दर्शन ही मानते हैं।

(३) चरक-संहिता का प्रतिसंस्करण—वैद्यक-शास्त्र का ग्रन्थ 'चरक-संहिता' का पतंजलि ने प्रतिसंस्करण किया है, ऐसा माना जाता है।

"पातञ्जलिवार्तिक" नाम के एक ग्रन्थ का भी जिक्र मिलता है। कृष्ण-यजुर्वेदीय चरक शाखा का पतंजलिने आयुर्वेद की मूल आत्रेय-संहिता का संस्करण किया, इसलिए उसे 'चरक-संहिता' नाम मिला ऐसा माना जाता है।

और भी कुछ ग्रन्थ पतञ्जलि के नाम पर चलते हैं, लेकिन उनके बारे में निर्णय करना कठिन है।

ऐसे महामुनि को हम भी "प्रांजलिरान-तोऽस्मि" कहें।

- क्रोध मूर्खता से शुरू होता है और पश्चात्ताप पर समाप्त होता है —पैथागोरस
- चोरी का जन्म संचय से होता है। —विनोबा
- ब्रह्मचर्यमय जीवन परम पुरुषार्थमय जीवन है। — उड़िया बाबा
- कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का ऐक्य ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। — योगी अरविन्द

देखो सबेरा आ रहा है?

श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

आँख खोलो सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
निविड़तम तम पी धरा का
ज्योति में भर प्राण अपने
साधना का दीप ले जो
कर गया साकार सपने
स्वर्ग से भू-पर उतर आलोक उसका गा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
द्वेष की काली निशा फिर
हँस उठे आलोक पाकर
स्नेह का मधु दान करता
जी सके मानव धरा पर
प्रेम का सन्देश अम्बर को जगाने आ रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
शोध — शालाएँ करो अब
बन्द सब विज्ञान की ये
बन रही हैं आज ग्राहक
मनुजता के प्राण की ये।
रक्त की ले प्यास मानव असुर बनने जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
तुम न अणु बम से सकोगे
जीत मानव के हृदय को
सो रहे हो, जाग जाओ
क्यों बुलाते हो प्रलय को,
हो रही है शंख-ध्वनि युग एक बीता जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।

त्वदीयं वस्तु श्रद्धेयम्–

परम-पूज्य योग-योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की मंगलमय जयन्ती के अवसर पर 'सिद्धयोग' अपने जीवन के बीसवें वर्षमें प्रवेश कर रहा है। जैसा कि पाठकों को सुविदित है अब से ठीक उन्नीस वर्ष पूर्व इसका जन्म इन्हीं महाप्रभुजी की सुप्रेरणा से इनके ही द्वारा प्रतिपादित और प्रचारित योग के परम्परागत सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं को जन-जन तक पहुंचाने के उद्देश्य से हुआ था। यह भी 'सिद्धयोग' के पाठक-परिवारसे छिपा नहीं है कि महाप्रभुजी से उद्भूत उनकी इस प्रेरणा को मूर्तरूप देने का शुभारम्भ हुआ था, उनके अपनी ही मणिमाला के सुमेरु-शिष्य योगऐश्वर्यों की प्रतिमूर्ति आनन्दकन्द स्वनाम धन्य श्रद्धेय श्री चन्द्रमोहनजी महाराज द्वारा। इन पिछले उन्नीस वर्षों में जिस अनुपम ललक और लगन से इन्होंने इसका संरक्षण-संवर्द्धन संपादन और पालन-पोषण किया है, जिस अदम्य उत्साह से पत्र-प्रकाशन के मार्ग में प्रायः वर्ष प्रति-वर्ष आने वाली आर्थिक दुरूहताओं को आड़े नहीं आने दिया, यह सब इनकी अपनी सहज औदार्यवृत्ति और जीवनदायिनी संकल्प-शक्तिका ही परिणाम रहा है। इन्हीं की कृपाकोर का आश्रय पाकर 'सिद्धयोग' अपने पाठक-परिवार का क्षेत्र क्रमशः विकसित करता आ रहा है और इन्हीं की सुप्रेरणा और निर्देश पाकर उनके अपने प्रिय शिष्यों एवं योग-प्रेमी इतर विद्वान् सुलेखकों की उत्तमोत्तम रचनायें हमें प्रकाशनार्थ प्राप्त होती रही हैं। वस्तुतः 'सिद्धयोग' में जो कुछ भी सुन्दर, श्रेष्ठ और उपादेय रहता रहा है, वह सब गुरु-कृपा से प्राप्त इन्हीं सब मनीषी लेखकों की सुकृतियों का परिणाम है। संयुक्त-सम्पादक के रूप में मेरा-अपना उत्तरदायित्व तो इसमें रह गई कमियों को स्वीकार कर लेने तक ही सीमित है। श्री गुरुदेवजी की सद्कृपा और सुविज्ञ लेखकों के सहयोग के लिए मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, साथ ही आश्रमवासी उन सभी ब्रह्मचारियों को आदर-पूर्वक नमन करना भी मेरा अपना कर्त्तव्य है, जो 'सिद्धयोग' के व्यवस्था-विभाग में संलग्न रहकर इसे पाठकों तक पहुंचाने में अपने सेवाभाव सहयोग और श्रम साधना का समर्पण करते रहते हैं।

'सिद्धयोग' के इस अंक में—जो बीसवें वर्ष का प्रवेशांक है—योग-मार्ग पर आगे बढ़ाने की जितनी भी प्रेरक सामग्री है, वह सब महाप्रभुजी और हम सबके आराध्य श्री गुरुदेवजी के सहज सुलभ आशीर्वाद का ही फल है। अतः 'त्वदीयं वस्तु श्रद्धेयं तुभ्यमेव समर्पये' की उक्ति के अनुसार उनकी यह वस्तु उन्हीं के चरण-कमलों में सादर समर्पित की जा रही है। इन पंक्तियों का लेखक तो 'निमित्तमात्रंभवसव्यसाची' की स्थिति में ही अपने को, आप सबके सामने खड़ा पा रहा है।

विनयावनत :

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

संयुक्त सम्पादक

Siddhayoga Regd No, L. AG. 008 Apr. 1987

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

मनोजवित्वम्

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

योग-दर्शन में—

ततो मनोजवित्वम् विकरण भावः प्रधानजयश्च ।

योगी का मन जहाँ-जहाँ पहुँचता है तत्काल वहाँ शरीर भी पहुँच जाता है। मन के वेग के साथ शरीर का पहुँचना मनोजविता नाम की सिद्धि है। विकरण भाव का अर्थ है बिना ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि को ग्रहण करना "स पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः" की स्थिति हो जाती है। प्रधान जय का अर्थ है—सम्पूर्ण स्थूल व सूक्ष्म भूतों पर विजय प्राप्त कर लेना। इस सिद्धि के आ जाने पर योगी सम्पूर्ण रूप से प्रकृति पर शासन करने वाला हो जाता है। जो पहले प्रकृति से शासित था, वह अब प्रकृति पर शासन करने वाला बन जाता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति भी दृढ़ हो जाती है।

—ब्रह्मचारी श्री दासलाल

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, वसई कलाँ, ताजगंज, आगरा-१